है। अर्थात् किसी वस्तुके गुण, स्वभाव और क्रिया तीनों मिलकर उसका धर्म कहलाते हैं। यहाँ 'सुरुचि' गुण है, 'सुवास' स्वभाव है और 'रस' क्रिया है। (मा० प्र०) (घ) अब यह प्रश्न होता है कि ये तीनों वस्तु धूलिमें कहाँ हैं? उत्तर—कमलमें सुरुचि वर्ण (दीप्तिमान् रंग) है, गुरुपदरजमें 'सुरुचि' है यह गुणधर्म है। सुन्दर सुगन्ध स्वभाव है। कमलमें रस है और रजमें जो श्रेष्ठ अनुराग है यही क्रिया धर्म है। ये तीनों धर्म आगेकी तीन अर्धालियोंमें क्रमसे दिखाये गये हैं। (मा० प्र०)

अर्थ—२ मैं श्रीगुरुपदपरागकमलकी वन्दना करता हूँ, जिसमें सुरुचिरूपी सुवास और अनुरागरूपी सुन्दर वा सम्यक् प्रकारका रस है।

नोट—२ (क) पिछले अर्थमें *'पदुम'* को दीप-देहलीन्यायसे *'पद'* और *'पराग'* दोनोंका विशेषण माना था और धर्मके तीन प्रकार कहे गये। अब इस अर्थमें *'पदुम'* का अन्वय *'पराग'* के साथ किया है और कमलके दो धर्म सुवास और मकरन्द लिये हैं। पदरजमें जो सुरुचि और अनुराग है वही सुवास और रस है। (मा० प्र०) (ख) बैजनाथजीने भी ऐसा ही अर्थ किया है। वे लिखते हैं कि कमलमें पीत पराग होता है और भूमि (मिट्टी) का रङ्ग भी पीत माना जाता है। रङ्ग तो प्रसिद्ध है ही, अतः अब केवल गन्ध और रस कहते हैं। पदरजमें शिष्यकी जो सुन्दर रुचि है वही सुगन्ध है। गुरुपदमें सारे जगत्की एकरस रुचि (चाह) होती है, अन्य इष्ट नामोंमें सबकी एकरस रुचि नहीं होती। इसी प्रकार रजमें जो एकरस अनुराग है वही रस है। [अनुरागमें नेत्रोंसे जल निकल पड़ता है, इसी विचारसे अनुरागको सुन्दर रस कहा। यथा—*'राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥'* (विनय० ८२)] (ग) पंजाबीजीने यह दूसरा अर्थ दिया है और मानसमयंककारने भी। 'सम्यक् प्रकारका' ये शब्द इनमें नहीं हैं। 'अनुराग रस है' ऐसा अर्थ इन दोनोंने किया है। पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीसद्गुरुपदकमलरज, जिसमें भक्तोंकी सुष्ठु रुचिरूपी सुगन्ध और भक्तोंका प्रेमरूपी रस है, उसकी मैं वन्दना करता हूँ। पं० शिवलाल पाठकजीका मत है कि श्रीगुरुपदरजमें ये दोनों सदा रहते हैं। जो बड़भागी शिष्य मन मधुकरको इसमें लुब्ध कर देता है, उसमें भी सुरुचि और भगवत्-चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जाते हैं। मानसमयंककारका मत है कि शिष्यकी रुचि और शिष्यके अनुरागको पद-परागके वास और रस माननेसे सर्वथा असङ्गति होगी। क्योंकि सुगन्ध और रस तो परागमें स्थित हैं, कहीं बाहरसे नहीं आये हैं। तब सुरुचि और अनुराग दूसरेका कैसे माना जा सकता है? अतएव यहाँ भावार्थ यह है कि श्रीगुरुपदपद्म-परागमें जो भगवत्-भागवतमें श्रद्धा और अनुराग उत्पन्न करानेवाला गुण है, जिसके सेवनसे शिष्यके हृदयमें श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होता है, उस शक्तिजन्य श्रद्धा और प्रेमसे सुवास और रसका रूपक है। 'सुरुचि'=श्रद्धा (मा० मा०) (घ) यहाँ 'रज' का प्रताप कहते हैं। जिसके पास जो चीज होती है वही वह दूसरेको दे सकता है। सन्त सदा भगवदनुरागमें छके रहते हैं। वे श्रद्धाविश्वासके रूप ही हैं। फिर गुरुदेव तो ब्रह्मरूप ही हैं तब उनके रजमें यह प्रभाव क्यों न हो? रजमें 'सुरुचि और अनुराग' मौजूद हैं; इसीसे सेवकको प्राप्त होते हैं। (शिला)। कमलपरागसे पदपरागमें यहाँ विशेषता यह है कि यह अपने गुणधर्म सेवकमें उत्पन्न कर देता है। कमलपरागमें यह गुण नहीं है। पदरजसेवनसे शिष्यमें भी भक्ति-भक्त-भगवंत-गुरुके प्रति सुन्दर रुचि हो जाती है, गुरुके साथ-साथ शिष्यकी भी सराहना होने लगती है यही 'सुवास' है। गुरुपदरजसेवनसे वह श्रेष्ठ अनुराग जो श्रीगुरुमें भगवान्के प्रति है, शिष्यमें भी आ जाता है। इस प्रकार यहाँ अधिकतद्रूपकालङ्कार भी है। कमलमें रुचि और रस है। पदरजमें 'सुरुचि' और 'सरस अनुराग' है। पदरज परमार्थका देनेवाला है यह विशेषता है। 'संत-दरस-परस-संसर्ग' का यह फल होता ही है। यथा—*'जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥'* (२। २२०)

अर्थ—३ मैं श्रीगुरुपदकमलपरागकी वन्दना करता हूँ जो सुरुचि (सुन्दर प्रकाश वा दीप्ति), सुवास और रस-युक्त है और जिसमें रङ्ग भी है। (रा० प०, रा० प० प०)

नोट—३ इस अर्थमें *'सरस'* के *'स'* को सुरुचि, सुवास और रस तीनोंके साथ लेना होगा। *'अनु'* उपसर्गका अर्थ 'सदृश' और 'साथ' श० सा० में मिलता है। 'राग' का अर्थ *'रङ्ग'* है। इस तरह 'अनुराग' का अर्थ 'रङ्गसहित' हो सकता है। काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि कमलमें ये चार गुण हैं, रुचि, वास, रस और रङ्ग। वे ही सब गुण परागमें हैं। इसपर रा० प० प० कार लिखते हैं कि किसी चीजमें सुगन्ध है, पर रुचि नहीं होती, जैसे चोवामें। किसीमें रुचि है पर गन्ध नहीं, जैसे सुवर्णमें। किसीमें सुवास, रुचि और रस भी होता है पर रङ्ग नहीं, जैसे शिखरनमें। पर पदपरागमें वे सब गुण हैं। रामायणीजीने 'अनु' का अर्थ 'किञ्चित्' किया है।

अर्थ—४ मैं सुन्दर रुचि, सुन्दर वासना और सरस अनुरागसे गुरुजीके चरणकमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ। (रा० प्र० बाबा हरिहरप्रसादजी)

नोट—४ यह अर्थ सीधा है। इसमें वे कोई शङ्काएँ नहीं उठतीं जो औरोंमें की गयी हैं। पर रूपक नहीं रह जाता।

अर्थ—५ मैं गुरुजीके कमलरूपी चरणोंकी परागसदृश धूलिकी वन्दना करता हूँ जो धूलि परागकी ही नाईं रुचिकर, सुगन्धित, रसीली और रङ्गीली है। (वि० टी०)

नोट—५ यह अर्थ रा० प० वाला ही लगभग समझिये।

अर्थ—६ मैं श्रीगुरुजीके चरणकमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ जिसमें (मेरी) सुन्दर रुचि ही सुगन्ध है (जिसके कारण हृदयमें) अनुराग सरसता है। (पं० विश्वनाथ मिश्र)

नोट—६ पं० विश्वनाथ मिश्रका लेख हमने अन्तमें दिया है।

अर्थ—७ मैं श्रीगुरुपदपद्मके परागकी वन्दना करता हूँ जो अच्छी रुचि, अच्छी वासना और अनुरागको सरस करनेवाली अर्थात् बढ़ानेवाली है। (अर्थात् जिनके पदपरागका ऐसा प्रताप है।) (श्रीनंगे परमहंसजी)

अर्थ—८ मैं गुरुमहाराजके चरणकमलोंके रजकी वन्दना करता हूँ; जो सुरुचि (सुन्दर स्वाद), सुगन्ध तथा अनुरागरूपी रससे पूर्ण है। (मानसाङ्क)

नोट—७ रजकी इतनी बड़ाई किस हेतुसे की? उत्तर—चरणमें अङ्गुष्ठ शेषनाग हैं, अँगुलियाँ दिग्गज हैं, पदपृष्ठ कूर्म हैं, तलवा सगुण ब्रह्म है और रज सत्तास्वरूप है। इसीसे पदरजकी इतनी बड़ाई की। (काष्ठजिह्वास्वामी)

टिप्पणी—(१) यहाँ चार विशेषण अर्थात् सुरुचि, सुवास, सरस और अनुराग दिये हैं जिसका अभिप्राय यह है कि रजके सेवनसे चारों फल प्राप्त होते हैं। सुरुचिसे अर्थकी प्राप्ति कही; क्योंकि रुचि नाम चाहका भी है, सुवाससे धर्मकी प्राप्ति कही; क्योंकि धर्ममें तत्पर होनेसे यशरूपी सुगन्ध फैलती है। सरससे कामकी प्राप्ति कही; क्योंकि काम भी रससहित है और अनुरागसे भक्ति देनेवाली सूचित किया; क्योंकि ***'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।'*** (खर्रा)। (२) 'चार विशेषण देनेका भाव यह है कि कमलमें चार गुण हैं वही गुण परागमें हैं। तात्पर्य यह है कि जो गुण चरणमें हैं वह रजमें भी हैं'।

नोट—८ मं० श्लोक ३ में गुरुकी, सोरठा ५ में गुरुपदकी और फिर यहाँ पदरजकी वन्दना करनेके भाव ये कहे जाते हैं—

(क) श्लोकमें शङ्कररूप कहकर स्वरूपकी वन्दना की, फिर सोचे कि हम स्वरूपके योग्य नहीं हैं तब चरणकी वन्दना की। उसका भी अधिकारी अपनेको न समझा तब रजकी वन्दना की। (रा० प्र०)

(ख) गुरुकी वन्दना करके अपनेको उनके आश्रित किया। पदवन्दनासे अपनेको सत् समीप बैठने योग्य बनाया, जैसे द्वितीयाका टेढ़ा चन्द्रमा शङ्करजीका आश्रय लेनेसे वन्दनीय हुआ। तब गुरुवचनद्वारा महामोहका नाश हुआ। अब पदरजकी वन्दनासे भवरोगको परिवारसहित नाश करना चाहते हैं। (रा० प्र०)

नोट—९ श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र—इस चौपाईका अर्थ कुछ टीकाकार इस प्रकार करते हैं—'श्रीगुरुजीके

चरणकमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ, जिसमें सुन्दर प्रकाश है [सुरुचि], सुन्दर गन्ध है, जो रसयुक्त है और जिसमें अनुराग [प्रेम-भक्ति] उत्पन्न होता है।'

सभी लोग जानते हैं कि 'पराग' धूलिको कहते हैं। उसको 'सरस' (रसयुक्त) मानना अनुचित है, क्योंकि 'पराग' (धूलि) में रस नहीं होता और न साहित्यमें परागका विशेषण कभी 'सरस' हुआ ही है। इसी कारण कुछ लोग दूसरे ढंगसे अर्थ करते हैं। वे 'सरस' का अर्थ 'बढ़कर' लेते हैं। जैसा कि अयोध्याकाण्डमें गोस्वामीजीने लिखा है, *'सीय सासुप्रति बेष बनाई। सादर करइ सरस सेवकाई॥'*

यहाँपर जिस प्रकार 'सरस' का अर्थ बढ़कर, अधिक बढ़िया है उसी प्रकार उक्त चौपाईके 'सरस' का अर्थ बढ़कर लेते हैं और *'सरस अनुरागा'* का अर्थ करते हैं 'बढ़िया प्रेम होता है।' किंतु 'सरस अनुरागा' शब्दमात्रसे इतना अर्थ नहीं होगा। 'होता है' के लिये कोई क्रिया अवश्य चाहिये पर यहाँ क्रिया नहीं है। यदि *'अनुरागा'* को क्रिया मानें जैसा कि निम्नलिखित चौपाईमें है, *'प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा। तुरत दिव्य सिंहासन माँगा॥'* तो *'अनुरागा'* का अर्थ 'अनुरक्त हो गया' लेना पड़ेगा। ऐसी दशामें *'सरस अनुरागा'* का अर्थ होगा 'अधिक अनुरक्त हो गया'। पर क्या अनुरक्त हो गया उसका पता नहीं चलता। *'अनुरागा'* क्रियाका कर्त्ता वैसी दशामें *'परागा'* ही होगा, जो हो नहीं सकता। अतएव यह अर्थ भी असमर्थ है।

कुछ व्यासलोग *'अनुरागा'* का अर्थ 'रक्तवर्ण' भी करते हैं पर साहित्य-संसारमें कमल परागका रंग 'पीला' ही माना जाता है 'लाल' नहीं, इससे यह अर्थ भी ठीक नहीं जँचता।

वस्तुतः इस चौपाईमें कोई क्रिया *'बंदउँ'* के अतिरिक्त नहीं है और अगली चौपाईसे भी इस चौपाईकी क्रियाके लिये कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी चौपाईमें तो दूसरी बात ही आरम्भ हो जाती है। *'अमिय मूरि मय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥'* आदि।

यद्यपि नीचेकी सब चौपाइयाँ *'गुरु पदपदुम परागा'* का ही विशेषण हैं या उससे ही सम्बन्ध रखनेवाली हैं पर *'सुरुचि सुवास सरस अनुरागा'* से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। *'सुरुचि सुवास सरस अनुरागा'* का सम्बन्ध केवल *'गुरुपदपदुम परागा'* से ही है। इसलिये चौपाईका यह एक पद अपने अर्थके लिये स्वतन्त्र है। किन्तु इसमें कोई क्रिया नहीं है। हमारे विचारसे *'सरस'* शब्दको क्रिया मानकर अर्थ करना चाहिये तभी इसका ठीक-ठीक अर्थ लग सकेगा। अन्यथा व्यर्थकी खींचातानी करनी पड़ेगी और अर्थ भी ठीक न होगा। सुतरां *'सरस'* का अर्थ होगा 'सरसता है' 'बढ़ता है'। 'सरसाना' का अर्थ 'बढ़ाना' बराबर होता है। 'सरसना' क्रियाका प्रयोग भी कम नहीं होता।

यहाँपर 'सरसना' क्रियाकी सार्थकताके लिये अवधीके व्याकरणकी इसी सम्बन्धकी एक-दो बातें भी बता देना उचित होगा। अवधी और व्रजभाषामें संज्ञाके आगे 'ना' लगाकर तुरत क्रिया बना लेते हैं। इससे कवितामें बहुत कुछ सुविधा होती है जैसे आनन्दसे 'आनंदना', निन्दासे 'निंदना' आदि। क्रियाके इस रूपमेंसे 'ना' को अलग कर जब शब्दको क्रियाके लिये प्रयुक्त करते हैं तो वैसी दशामें क्रियाके उस रूपका प्रयोग सदा सामान्य वर्तमान कालमें होता है। जैसे, १ 'पूँछ' *रानि निज सपथ देवाई।* २ *पीपर पात सरिस मन 'डोला'।* ३ *जौं सिय भवन रहइ 'कह' अंबा।* ४ *का नहिं पावक जारि 'सक'।* आदि।

ठीक इसी प्रकार, जैसे पूँछ, डोल, कह और सकका प्रयोग सामान्य वर्तमान कालकी दशामें हुआ है, 'सरस' भी सामान्य वर्तमान कालकी अवस्थामें प्रयुक्त होकर 'सरसता है' अर्थ देगा। अस्तु। हमारे विचारसे उक्त चौपाईका अर्थ इस प्रकार होना चाहिये। 'मैं (तुलसीदास) श्रीगुरुजीके चरणकमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ, जिसमें (मेरी) सुन्दर रुचि ही सुगन्ध है [जिसके कारण हृदयमें] अनुराग सरसता है (बढ़ता है)। यहाँपर यदि 'सुरुचि' का अर्थ सुन्दर चमक या प्रकाश किया जाय तो साहित्यिक दृष्टिसे

कोई चमत्कार नहीं होगा। क्योंकि जब चरणोंको कमल बनाया, चरणोंकी धूलिको 'पराग' कहा [उक्त चौपाईमें 'पराग' शब्द श्लिष्ट समझना चाहिये, जिसका अर्थ कमलके पक्षमें 'पुष्परज' और चरणोंके पक्षमें 'धूलि' होगा] तो 'सुवास' का भी किसीके साथ रूपक होना चाहिये। तभी 'रूपक' अलङ्कार पूर्ण होगा। इसलिये 'सुरुचि' का अर्थ सुन्दर रुचि लेना होगा। जिस प्रकार 'सुगन्ध' के कारण कमलके पास जानेकी इच्छा होती है उसी प्रकार सुन्दर रुचि होनेसे ही गुरुके चरणोंमें प्रेम बढ़ता है। यदि हृदयमें रुचि न होगी तो गुरुके चरणोंमें 'प्रेम' कदाचित् न बढ़ेगा। इसलिये 'सुरुचि' का अर्थ हृदयकी सुन्दर 'रुचि' ही लेना अधिक उपयुक्त और समीचीन है ['आज' गुरुवार सौर २६ ज्येष्ठ सं० १९८४, वै०]।

अमियमूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज-परिवारू॥ २॥

शब्दार्थ—अमिय (सं० अमृत। प्रा० अमिअ)=अमृत। **अमियमूरि**=अमरमूर; अमृतवटी; संजीवनी बूटी। **मय**=संस्कृतभाषामें यह तद्धितका एक प्रत्यय है (जिसे शब्दके अन्तमें लगाकर शब्द बनाते हैं) जो 'तद्रूप, विकार और प्राचुर्य' अर्थमें शब्दोंके साथ लगाया जाता है। यहाँ 'विकार' के अर्थमें है। (श० सा०) **चूरन** (चूर्ण)-सूखी पिसी हुई औषधि, जड़ी वा बूटी=धूल। **चारू** (चारु)=सुन्दर। **समन** (शमन)=शान्त करने, दबाने वा नाश करनेवाला। **भवरुज**=भवरोग=बारम्बार जन्ममरण, आवागमन होना। **परिवार**=कुटुम्ब। 'भवरूजपरिवार'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, ममता, मत्सर, दम्भ, कपट, तृष्णा, राग, द्वेष इत्यादि जो मानसरोग हैं, जिनका वर्णन उत्तरकाण्ड दोहा १२१ में है वे ही भवरोगके कुटुम्बी हैं।

अर्थ—(श्रीगुरुपदरज) अमृतमूरिमय सुन्दर चूर्ण है जो भवरोगके समस्त परिवारका नाश करनेवाला है॥ २॥

'अमियमूरिमय चूरन' के भाव

नोट—१ यहाँ *'अमियमूरिमय चूरन'* और *'पदपराग'* का रूपण है। शारीरिक रोगोंके लिये चूर्ण बनता है। सञ्जीवनी बूटीसे मृतप्राय भी जीवित हो जाते हैं। जैसे लक्ष्मणजी सञ्जीवनीसे जी उठे। पर पदपरागरूपी चूर्णसे शारीरिक और मानसिक दोनों रोग दूर होते हैं। इत्यादि विशेष गुण रजमें दिखानेसे यहाँ 'अधिक अभेद रूपक-अलङ्कार' है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि समुद्रमन्थनपर जो अमृत निकला वह जहाँ-जहाँ पड़ा वहाँ-वहाँ जो औषधियाँ जमीं वे सब सञ्जीवनी हो गयीं। सजीवनमूरि जिलाती है और रोग हरती है। और यहाँ 'रामविमुखजीव' मानों मृतक हैं। उनको रज रामसम्मुख करती है, यही जिलाना है। (शीला)

नोट—२ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि वैद्यक ग्रन्थमें अमरमूरिका चूर्ण खानेसे देवरूप और सिद्ध हो जाना कहा है; क्योंकि वह जड़ी अमृतमय है (अर्थात् वह जड़ीरूपमें अमृत ही है)। श्रीगुरुचरणरज-रूपी चूर्ण मोक्षरूपी अमृतमय है [अर्थात् जीवन्मुक्त कर देता है और अन्तमें चारों मुक्तियोंका देनेवाला है। दिव्य रामरूप (सारूप्य) की प्राप्ति कराता है। जन्म-मरण आदिका नाशक है]। यह विशेषता पदरजमें है।

नोट—३ अमृत मृतकको जिला देता है और रज असाध्य भवरोगका नाश कर जीवको सुखी करता है।

नोट—४ अमृत देवताओंके अधीन है और गुरुपदरज सबको सुलभ है।

नोट—५ बैजनाथजी लिखते हैं कि औषधियोंके पञ्चाङ्गों (मूल, त्वचा, दल, फूल, फल) में मूल ही सबसे श्रेष्ठ है। मूल तीन प्रकारका होता है। विषवत्, मध्यस्थ और अमृतवत्। अमृतवत् मूलसे हानि नहीं होती, इसीको *'अमियमूरि'* कहा है। अथवा, जो विशेष अमृतवत् है, जिनसे कायाकल्प आदि होते

हैं। यथा—'**असिततिलविमिश्रं भृंगराजस्य चूर्णं सवितुरुदयकाले भक्षयेद्यः पलार्द्धम्। स भवति चिरजीवी चक्षुषा गृध्रतुल्यो भ्रमरसदृशकेशः कामरूपो द्वितीयः॥**' इत्यादि चूर्ण खानेसे देह अमरवत् हो जाता है। श्रीगुरुपदरजरूपी अमियमय चूर्ण भगवत्प्राप्तिरूपी अमरत्व प्रदान करता है। उस प्राकृत चूर्णके कूटने, पीसने आदिमें कष्ट, खानेमें कष्ट और यह चूर्ण बिना कष्टका है।

टिप्पणी—(१) '***अमियमूरिमय***' से खानेमें मधुर, '**चारु**' से देखनेमें सुन्दर और '***समन सकल भवरुज परिवारू***' से उसका गुण जनाया। (२) यहाँ 'अधिक तद्रूपकालङ्कार' है। अर्थात् उपमान (अमियमूरिमय प्राकृत चूर्ण) से उपमेय (पदरजरूपी पारमार्थिक चूर्ण) में बहुत अधिक श्रेष्ठता है। औषधि शारीरिक रोग दूर करती है, पदरज भवरोग और उसके परिवारको भी नाश करता है। वह औषधि एक-दो रोगोंको दूर करती है और यह अगणित असाध्य परमार्थपथके बाधक रोगोंको दूर करता है। 'भवरुज परिवार' असाध्य बहुत-से रोग हैं। यथा—'***एक ब्याधिबस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि। पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥***' (७। १२१) असाध्यता यह है कि नियम, धर्म, जप, तप, ज्ञान, दान, यज्ञ आदि उपाय चाहे जितने करो भवरोग जाते नहीं। यथा—'***नेम धरम आचार तप ग्यान जग्य जप दान। भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥***' (७। १२१) ऐसे असाध्य रोग भी पदरज-चूर्णसे दूर होते हैं। इससे यह जनाया कि श्रीगुरुपदरजसेवा सबसे अधिक श्रेष्ठ है। (३) इस अर्धालीमें परमार्थकी सिद्धि कही; आगे इसीसे स्वार्थकी सिद्धि कहते हैं। अर्थात् श्रीगुरुपदरज-सेवनसे लोक-परलोक दोनोंका बनना कहा।

नोट—६ इससे यह उपदेश मिलता है कि अन्य सब साधनोंको छोड़कर श्रीगुरुनिष्ठ हो जाना समस्त साधनोंसे सुलभ और अति श्रेयस्कर उपाय भवनाश और भगवत्प्राप्तिका है। गुरुनिष्ठभक्त श्रीपादपद्मजी, तत्त्वाजीवाजी, घाटमजी आदिके चरित प्रसिद्ध हैं।

नोट—७ बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि पूर्व जो '***सुरुचि***' गुण धर्म कहा था उसीको यहाँ '***अमिय****····* ***परिवारू***' रजके इस विशेषणमें कहते हैं। अर्थात् भवरुजपरिवारका नाश करनेको वह रज 'रुचि' (दीप्ति वा प्रकाश) है।

नोट—८ भवरोगका परिवार कामादि तो बड़े सूक्ष्म हैं। यथा—'***मिले रहैं, मार्‌यो चहैं कामादि संघाती। मो बिनु रहैं न, मेरियै जारैं छल छाती॥····बड़े अलेखी लखि परैं, परिहरै न जाहीं।***' (विनय० १४७) और रज स्थूल है। स्थूलसे सूक्ष्मका नाश कैसे होगा? उत्तर यह है कि (क) यहाँ जिस गुरुपदरजका वर्णन हो रहा है वह बुद्ध्यस्थ गुरुपदरज है और वह भी सूक्ष्म है। अतः सूक्ष्म-से-सूक्ष्मके नाशमें शङ्का नहीं रह जाती। अथवा (ख) जैसे मन्त्रजाप, यज्ञ, तप, तीर्थ, दान आदि स्थूल साधनोंसे सूक्ष्म मनकी शुद्धि की जाती है, इनसे मनकी मलिनता और पाप दूर होते हैं, वैसे ही पदरजसे कामादिका नाश होता है (रा० प्र०)।

नोट—९ 'प्रथम रोगहीसे भूमिका बाँधी, सो क्यों?' अर्थात् ग्रन्थको रोगहीके प्रसङ्गसे प्रारम्भ करनेका क्या भाव है? यह प्रश्न उठाकर रा० प्र० कारने उसका उत्तर लिखा है कि श्रीरामचरित कहना एक बड़ा भारी मन्दिर बनाना है। मन्दिर बनानेमें शरीरका पुरुषार्थ लगता है। ग्रन्थकार अपने शरीरको भवरोगग्रसित जानकर प्रथम ही रोग छुड़ानेका विचारकर श्रीगुरुपदरजकी वन्दना करते हैं और उस अमियमूरिमयचूर्णसे अपने शरीरको नीरोग करते हैं। शरीर नीरोग होकर पुष्ट हो तब मन्दिर बने। (रा० प्र०) विनायकीटीकाकार भी लिखते हैं कि '**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलकारणम्।**' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभीकी सिद्धिके लिये आरोग्यता मुख्य कारण है। यदि शरीर रोगग्रस्त हो जाय तो कोई भी कार्य ठीक-ठीक न बन पड़ेगा। इस हेतु वैद्यक-शास्त्रको मुख्य मान उसीके आधारसे ग्रन्थका आरम्भ करते हैं, जैसा कि कुमारसम्भवमें कहा है, '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**'(५। ३३)।

सुकृत[1] संभुतन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥ ३॥

शब्दार्थ—**सुकृत**=पुण्य।=धर्मशील।=जो उत्तम रूपसे किया गया हो। (श० सा०)। **तन**=शरीर; देह। **बिमल**=निर्मल; उज्ज्वल। **बिभूती**=अङ्गमें चढ़ानेकी राख। भस्म। **मंजुल**=सुन्दर। **मंगल मोद**=नोटमें दिया गया है। **प्रसूती**=जननेवाली; माता।

इस अर्धालीके पूर्वार्द्धका अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न किया है; उनमेंसे कई-एक यहाँ दिये जाते हैं। टिप्पणियाँ भी साथ ही दी गयी हैं।

अर्थ—१ श्रीगुरुपदरज सुकृतरूपी शम्भुके शरीरकी निर्मल विभूति है। सुन्दर मङ्गल और आनन्दकी जननी (उत्पन्न करनेवाली) है॥ ३॥

नोट—१ (क) मा० प्र० कार लिखते हैं कि यहाँ विपर्यय-अलङ्कारसे कहते हैं। जैसे शिवजीके शरीरमें लगकर श्मशानकी विभूति सुशोभित होती है वैसे ही गुरुचरणरज विभूतिमें लगकर समस्त सुकृतरूपी शम्भुतन सुशोभित होते हैं। भाव यह कि जिस पुण्यमें गुरुचरणरज नहीं पड़ा वह सुकृत तो है पर शोभित नहीं है। *'तनु बिमल बिभूती'* का अर्थ वे 'तनुको निर्मल करनेको विभूति है' ऐसा करते हैं। (मा० प्र०)

(ख) यहाँ सुकृतमें शम्भुतनका आरोप और गुरुपदरजमें निर्मल विभूतिका आरोपण है। प्रथम रूपकके अन्तर्गत दूसरा रूपक उत्कर्षका हेतु होनेसे 'परम्परित' है। (वीरकवि)

(ग) इस अर्धालीमें अधिकतद्रूपकालङ्कारसे यह भाव निकलता है कि श्रीशिवजीके शरीरमें लगनेवाली विभूति (चिताकी भस्म) तो महा अपावन है; पर शिवजीके अङ्गके सङ्गसे वह विमल अर्थात् शुद्ध और पावन हो जाती है। यथा—*'भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।'* (१। १०) 'तदंगसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये। तथा हि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम्॥' (कुमारसम्भव ५। ७९)। और श्रीगुरुपदरजविभूतिसे तो सुकृतरूपी शिवतन ही निर्मल हो जाता है। पदरजसे सुकृतोंके निर्मल होनेका भाव यह कि जब श्रीगुरुजीके आश्रित होकर श्रीगुरुपदरजका आश्रय लेकर धर्म किये जाते हैं, तब सुकृत बढ़ने लगते हैं और तभी उनकी शोभा है। कर्तृत्वाभिमान मल है जो छूट जाता है।

(घ) गुरु शम्भु हैं, गुरुका तन (=शिवका तन) सुकृत है। ऐसा मानकर यह भावार्थ कहा जाता है कि सुकृतरूपी शिवतनमें ही निर्मल विभूति है, अर्थात् गुरुके तनमें लगनेसे निर्मल हो गयी है, इसीसे मञ्जुल मङ्गलमोदको देनेवाली है।

(ङ) बैजनाथजी लिखते हैं कि ऐसा माहात्म्य सुनकर कोई सन्देह करे कि न जाने कहाँकी अपावन धूलि पैरोंमें लगी है, वह कैसे पवित्र हो सकती है? इसपर कहते हैं कि *'सुकृत संभुतन'*……'। अर्थात् जैसे चिताकी अपावन भस्म शिवतनमें लगनेसे पवित्र हो गयी, वैसे ही सुकृतरूप शिवका तन पाकर गुरुपदमें लगी हुई धूलि पवित्र हो गयी। गुरुके भजनप्रतापसे वह शुद्ध हो गयी। तात्पर्य कि यह सुकृतियोंके समाजका माहात्म्य है, कुछ अधर्मियोंके समाजकी बात नहीं है।

अर्थ—२ यह (श्रीगुरुपदरजरूपी) निर्मल विभूति सुकृतरूपी शम्भुतनके लिये सुन्दर मङ्गल और आनन्दको उत्पन्न करनेवाली है।

अर्थ—३ 'श्रीगुरुपदरज शिवजीके शरीरमें सुन्दर लगी हुई निर्मल भस्म (के समान है)……'। यहाँ 'सुकृत'=सुन्दर लगी हुई।

---

१. श्रावणकुञ्जकी पोथीमें 'सुकृति' पाठ है। परन्तु पं० शिवलालपाठकजीकी किसी पुस्तकमें यह पाठ नहीं है। मानसमयङ्क, अभिप्रायदीपक आदिमें भी 'सुकृत' ही पाठ है और १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दी० सबमें 'सुकृत' ही है। अतः मूल आधारका ही पाठ रखा गया। 'सुकृति' (सं०)=पुण्य। (श० सा०)।

नोट—२ भाव यह कि जैसे शिवतनमें लगी हुई विभूति उनके शरीरके सङ्गसे ऐसी विशुद्ध हो जाती है कि नृत्य करते समय उनके शरीरसे गिरी हुई रजको देवता लोग मस्तकपर लगाते हैं और उसके स्मरणसे मङ्गल-मोद होता है, वैसे ही श्रीगुरुपदमें लगनेसे कैसी ही अपावन रज हो वह पावन और मुद मङ्गल करनेवाली है। यहाँ समरूपक है।

अर्थ—४ सुकृती पुरुषरूपी शिवके शरीरपरकी गुरुपदरजरूपी निर्मल विभूति सुन्दर मङ्गलमोदको उत्पन्न करनेवाली है। (पं०, रा० प्र०)

नोट—३ पंजाबीजी और बाबा हरिहरप्रसादजीने *'सुकृत'* का अर्थ *'सुकृती साधु'* किया है और श्रीनंगे परमहंसजीने भी यह अर्थ दिया है। यहाँ *'सुकृती'* और शिवका एक रूपक है। भाव यह कि चिताभस्म तो श्रीशिवजीके अङ्गमें लगनेसे निर्मल हुई और रज विभूति सुकृतीरूपी शिवको निर्मल करती है। (रा० प्र०)

नोट—४ अर्धाली ३ और ४ *'सुकृत संभुतन''''बस करनी'* में जो श्रीगुरुपदरजके सम्बन्धमें कहा गया है वही श्रीशिवजीके तथा सुकृतियोंके विषयमें कहा गया है। यथा—**'सुकृतिनामिव शम्भुतनो रजः सुविमलं मृदुमङ्गलमोदकृत्। जनमनो मुकरस्य मलापहं तिलकमस्य गुणौघवशीकरम्॥'** (अर्थात् सुकृती पुरुषोंके समान श्रीशिवजीके शरीरकी विभूति अत्यन्त निर्मल, कोमल, मङ्गलमोद करनेवाली, भक्तके मनरूपी दर्पणके मैलका नाश करनेवाली है और उसका तिलक समस्त गुणोंको वश कर देनेवाला है।) पं० रामकुमारजीने अपने संस्कृत खर्रेमें यह श्लोक दिया है पर पता नहीं कि कहाँका है। इसके आधारपर एक अर्थ और हो सकता है।

अर्थ—५ 'सुकृती पुरुषों एवं श्रीशिवजीके तनकी निर्मल विभूति (के समान) है''' ' दोनोंको कहनेमें भाव यह होगा कि सुकृती सन्तोंके पदकी निर्मल रज और शिवके तनकी अपावन चिताभस्म दोनोंका प्रभाव श्रीगुरुपदरजमें है।

अर्थ—६ यह विभूति (रज) सुकृतरूपी शम्भुके तन (के स्पर्श) से निर्मल हो गयी और सुन्दर मोद मङ्गलकी उपजानेवाली है।

नोट—५ यहाँ गुरुको शिव और उनके तनको सुकृत मानकर अर्थ किया है।

अर्थ—७ (यह रज) सुकृतरूपी शम्भुतनको निर्मल करनेकी विभूति है और सुन्दर मङ्गल और मोदको उत्पन्न करनेवाली (माता) है।

'सुकृत' को 'शंभुतनु' कहनेके भाव

(१) श्रीशिवजी सुकृतरूप हैं। यथा, 'मूलं धर्मतरोः' (३। मं० श्लोक १) इसलिये 'शिवतन' को सुकृत कहा। पुनः जो फल सुकृतसेवनका है वह शिवसेवासे भी प्राप्त होता है। सुकृतका फल श्रीरामपदप्रेम है। यथा—*'सकल सुकृतफल राम सनेहू।'* (१। २७) और श्रीशिवसेवाका फल भी यही है। यथा—*'सिवसेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥'* (७। १०६)

(२) 'रज'-लाभ बहुत सुकृतोंका फल है। जो सुकृती होगा वही श्रीगुरुपदरजके आश्रित रहेगा, दूसरा नहीं। अतएव रजके कल्याणकारी धर्मको लेकर 'शम्भु' की उपमा दी। 'शम्भु' का अर्थ ही है 'कल्याणकर्त्ता'। (रा० प०)

(३) भस्म और शिवतनका नित्य संयोग है, वैसे ही रज और सुकृतका नित्य संयोग है, रजविहीन सुकृती होती ही नहीं। (रा० प्र०)

(४) *'सुकृत'* का अर्थ 'सुकृती' लें तो शिवतनको वा शिवजीको सुकृती कहा, क्योंकि दोनोंके रजका एक-सा महत्त्व है। नोट ४ देखिये।

नोट—६ ***'बिमल बिभूती'*** इति। (क) ***'बिमल'*** कहनेका भाव यह है कि जो भस्म शिवजीके तनपर है वह मलिन है और गुरुपदरज ***'बिमल'*** (निर्मल) है। (पं० रामकुमार) (ख) पूर्व जो ***'सुबास'*** धर्म रजमें कहा था वह यहाँ दिखाया। सुकृतोंको निर्मलकर उज्ज्वल मङ्गलमोदरूपी ऐश्वर्य देना यही ***'सुबास'*** है। ***'मोद'*** का अर्थ 'सुगन्ध' भी है ही। (मा० प्र०) (ग) गुरुपदरजको, ऐश्वर्यरूप होनेके कारण यहाँ 'विभूति' कहा।

नोट—७ ***'मंजुल मंगल मोद.......'*** इति। (क) मंगल=अभीष्टकी सिद्धि। =कल्याण। मोद=आनन्द (श० सा०)। पुन:, 'पुत्रोत्सवादि' मङ्गल हैं और तज्जनित आनन्द मोद है। (रा० प्र०)। बाह्येन्द्रियोंद्वारा जो सुख हो वह ***'मङ्गल'*** है; जैसे शुद्ध सात्त्विकी भगवत्सम्बन्धी कर्म अथवा प्रिय वस्तुका देखना, पुत्रजन्म आदि। 'मोद' वह सुख है जो अन्त:करणके विचारसे उत्पन्न हो; जैसे अन्त:करणसे परमेश्वरका विचार करना अथवा प्यारी वस्तुके मिलनेसे जो आनन्द होता है, जैसे भगवान्‌का जन्मोत्सव, कथा-श्रवण, साधुओंको भोजन देना। (वि० टी०) **वा, मंगल**=बाह्यानन्द। **मोद**=मानसी आनन्द। (ख) ***'मंजुल'*** से पाया जाता है कि कोई-कोई मङ्गलमोद मलिन भी होते हैं? हाँ, जो कामक्रोधादिद्वारा निन्दित कर्मों या विचारोंसे सुख उत्पन्न होते हैं वे 'मलिन मङ्गलमोद' हैं जैसे दूसरेको दुखाकर अपनेको जो सुख मिले वह 'मलिन' है। सुन्दर नहीं है। अथवा, सांसारिक विषयोंद्वारा जो बाह्य वा आन्तरिक सुख होते हैं वे मलिन हैं और परमात्मतत्त्वप्राप्तिसे वा भगवत्प्राप्ति आदिसे जो बाह्यान्तर सुख होते हैं वे ***'मंजुल'*** हैं। (मा० प्र०) वा, रजोगुण-तमोगुणसम्बन्धी मङ्गलमोद मलिन हैं, शुद्ध सात्त्विक मङ्गलमोद मञ्जुल हैं। अथवा, ***'मंगल'*** को ***'मोद'*** का विशेषण मान लें तो भाव यह होगा कि सब आनन्द माङ्गलिक नहीं होते। जैसे कि विषयानन्द भी आनन्द है, पर वह नित्यके अनुभवसे सबको ज्ञात है कि वह अन्तमें दु:खदायी ही होता है। क्षणिकमात्रका सुख होता है और अनेक रोगादि उत्पन्न करके वही दु:खका कारण बनता है। यज्ञादिसे उत्पन्न सुख भी अस्थिर हैं, स्वर्गादि पाकर भी फिर गिरना पड़ता है, इसीसे श्रीवचनामृत है कि ***'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥ नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥'*** (७। ४४) इनसे बारम्बार जन्म-मरण होता है और ***'जनमत मरत दुसह दुख होई।'*** अतएव ***'मंगल'*** विशेषण देकर उसका निरास किया। तब माङ्गलिक कौन हैं? ब्रह्मानन्द, ज्ञानानन्द, योगानन्द आदि माङ्गलिक हैं जो आवागमनको छुड़ानेवाले हैं। इसपर प्रश्न होगा कि ***'मंजुल'*** विशेषणकी आवश्यकता क्या रह गयी? गोस्वामीजी ब्रह्मानन्द आदिको ***'मंजुल'*** नहीं कहते। इस आनन्दको छोड़कर भी जिस आनन्दकी इच्छा श्रीजनकमहाराज, शङ्करजी, सनकादि करते हैं वही ***'मंजुल'*** है।

नोट—८ यहाँ तनकी सेवा जनाई और आगे मनकी। (पं० रामकुमारजी)

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुन गन बस करनी॥ ४॥

शब्दार्थ—जन=दास। मंजु=सुन्दर।=(यहाँ मुकुरके सम्बन्धसे) स्वच्छ। मुकुर=दर्पण; मुख देखनेका शीशा; आईना। मल=मैल; विकार। यहाँ मोहादि विषयजनित मैलापन या 'मोरचा (जंग) अभिप्रेत है। यथा—***'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास, निरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥ नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय सँग लागे'*** (विनय० ८२) ***'काई बिषय मुकुर मन लागी॥ 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।'*** (१। ११५) तिलक=टीका। वह चिह्न जिसे गीले चन्दन, केसर, कस्तूरी आदिसे मस्तक आदि अङ्गोंपर साम्प्रदायिक संकेत वा शोभाके लिये लगाते हैं। **तिलक करना**=मस्तक आदिपर टीकाके रूपमें लगाना या धारण करना।=शिरोधार्य करना।

अर्थ—(श्रीगुरुपदरज) जनके सुन्दर मनरूपी दर्पणके मलको हरनेवाली है। तिलक करनेसे गुणसमूहोंको वशमें करनेवाली है॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'जन मन मंजु मुकुर मल'*** इति। मंजु मनमें मल कैसा? उत्तर—(क) जन (भक्त)

का मन है; इसलिये मंजु है। निर्मल रहना उसका स्वाभाविक गुण है। यथा—*'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥'* (४। १६) पर विधिवश कुसङ्गमें पड़ जानेसे विषयका सङ्ग पाकर उसपर मैल आ जाता है। यथा—*'बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं।'* (१। ३) *'काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥'* (१। ७) *'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयका नर बापुरे॥'* (७। १२२) *'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अति कामी॥'* (४। २१) देखिये, देवर्षि भक्तप्रवर श्रीनारदजीका मन स्वाभाविक निर्मल है। यथा—*'सहज बिमल मन लागि समाधी।'* (१। १२५) सो उनका मन दैवयोगसे कामजित् होनेके अहङ्कारवश फिर विश्वमोहिनीको देख कामवश हो गया और उसकी प्राप्ति न होनेपर वे क्रोधवश हो गये। उनके निर्मल मनमें गर्व, काम और क्रोधरूपी मल लग गया था। यथा—*'जिता काम अहमिति मन माहीं।'* (१। १२७) *'उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी।'* (१। १२९) *'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।'*...... *'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला॥'* (१। १२७, १२९, १३१) *'बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥'*...... *सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।'* (१। १३५, १३६) (पं० रा० कु०) (ख) बाबा जानकीदासजीका मत है कि अपने-अपने वर्णाश्रम धर्ममें रत रहना मनकी मञ्जुता है और भगवत्-भागवत-धर्मसे विमुख होना *'मल'* है। (मा० प्र०) (ग) [स्मरण रहे कि निर्मल वस्तु, जैसे दर्पण आदिमें ही मैल जब पड़ता है तब तुरंत झलकने लगता है जैसे स्वच्छ वस्त्रपर धब्बा। जो सर्वथा मैला है, उसमें मैल क्या देखा जायगा। भक्तके मनरूपी दर्पणमें विषयरूपी स्नेह (चिकनाई) से मैल बैठ जानेपर वह गुरुपदरजसेवनसे दूर हो जाता है, जैसे विभूतिसे चिकनाहट दूर हो जाती है। जो भक्त नहीं है वरंच भगवद्विमुख है वह गुरुके पास जायगा ही कब? वह तो स्वयं अपनेको गुरु समझता है। उसके मतमें तो गुरुकी आवश्यकता ही नहीं। तब उसके हृदयका मैल कब छूट सकता है? यथा, *'मूरुख हृदय न चेत......'*]

नोट—१ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि विचारसहित मन 'मंजु मन' है। ऐसा 'मंजु मन' ही दर्पण है। दर्पणमें अपना मुख दीखता है और विचारसहित मनरूप दर्पणमें अपना आत्मस्वरूप देख पड़ता है। यथा—पद्मपुराण कपिलगीता **'विचारं दर्पणं यस्य अवलोकनमीक्षितम्। दृश्यते तत्स्वरूपं च तत्रैव पृथकं नहि॥ हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्रावलोकयन्। दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं च निश्चिते॥'** मनदर्पणमें रज कैसे लग सकती है? पादोदक पीनेसे रज मनतक पहुँच जाता है, उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर सद्विचार उत्पन्न होते हैं। यथा—गुरुगीता 'शोषणं पापपंकस्य दीपनं ज्ञानतेजसाम्। गुरोः पादोदकं सम्यक् संसारार्णवतारकम्॥' (श्लोक २३) अर्थात् गुरुका चरणोदक पापरूपी कीचड़को सुखानेवाला, ज्ञानरूपी तेजका प्रकाशक और सम्यक् प्रकारसे संसारसमुद्रसे तारनेवाला है।

नोट—२ यहाँतक चार अर्धालियोंमें गुरुपदरजका माहात्म्य दिखाकर यह भी जनाया है कि यह 'विषयी, साधक और सिद्ध' जो तीन प्रकारके जीव हैं यथा—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* (२। २७७) उनके सेवनयोग्य है। *'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी'* से विषयीके लिये जरूरी दिखाया; क्योंकि वे विषयासक्त होनेसे भवबन्धनमें पड़े हैं। रजसेवनसे उनका विषयरूपी मल दूर हो जायगा। *'समन सकल भवरुज परिवारू'* से साधक (मुमुक्षु) के लिये जरूरी दिखाया; क्योंकि साधकको साधन करनेमें मानसरोगोंसे विघ्नका डर है। *'मंजुल मंगल मोद प्रसूती'* से सिद्धोंके भी कामका बताया। सिद्ध (अर्थात् मुक्तकोटिवाले जीव) को *'मंजुल मुद मंगल'* स्थित रखनेके लिये रजका सेवन जरूरी है।

नोट—३ *'किये तिलक गुनगन बस करनी'* इति। (क) जैसे तन्त्रशास्त्रकी रीतिसे वशीकरण-मन्त्रसे मन्त्रित करके नामके अनुकरणसे जो तिलक जिसके उद्देश्यसे किया जाता है, वह वशमें हो जाता है। तिलककर पुरुष स्त्रियोंको वशमें करते हैं, राजतिलकसे प्रजा वशमें होती है और द्वादश वैष्णव तिलक करनेसे देवताओंसहित श्रीरघुनाथजी वशमें होते हैं, इत्यादि, वैसे ही श्रीगुरुपदरजके तिलकसे गुणगण वशमें हो जाते हैं। यथा—*'जे गुरुचरनरेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥'* (२। ३) (रा० प्र०)

(ख) रज-तिलकमें विशेषता दिखाते हैं कि वहाँ वशीकरणप्रयोगके तिलकमें मन्त्र, तिथि, बार आदिका विचार करना पड़ता है और यहाँ बिना मन्त्र, तिथि, बार आदिके विचारके गुरुपदरजके तिलकमात्रसे गुणगण वशमें होते हैं। (रा० प्र०) (ग) रहूगणसे जड-भरतजीने महत्पुरुषोंके चरणरजके विषयमें ऐसा ही कहा है। यथा—'**रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥**' (भा० ५। १२। १२) अर्थात् हे रहूगण! इस प्रकारका ज्ञान महापुरुषोंके चरणरजको सिरपर धारण करनेके सिवा तप, यज्ञ, दान, गृहस्थोचित धर्मोंके पालन, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता।' (घ) 'गुणगण' से यहाँ ज्ञान, वैराग्य, विवेक, शान्ति, दया, क्षमा, शील, सन्तोष, आदि दिव्य गुण अभिप्रेत हैं। बिना इन गुणोंके भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा—'**शान्तः समानमनसा च सुशीलयुक्तः तोषक्षमागुणदयाऋजुबुद्धियुक्तः। विज्ञान-ज्ञाननिरतः परमार्थवेत्ता निर्धामकोऽभयमनाः स च रामभक्तः॥**' (महारामायण ४९। ९) अतः शुभगुणोंका वश करना कहा गया। (मा० प्र०, वै०)

नोट—४ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि जीवके कल्याणके तीन मार्ग हैं। कर्म ज्ञान, और उपासना। '***सुकृत संभुतन*****......**' में कर्मदेश कहा, क्योंकि तीर्थादिमें सुकृतोंकी वृद्धि होती है। वैसे ही गुरुपदरजका स्मरण कर कर्म करनेसे सुकृतकी वृद्धि होती है। यथा—'**सर्वतीर्थावगाहस्य सम्प्राप्नोति फलं नरः। गुरोः पादाम्बुजौ स्मृत्वा जलं शिरसि धारयेत्॥**' (गुरुगीता २२) '***जनमनमंजु*****......**' से ज्ञानदेशमें और '***किये तिलक*****......**' से उपासनामें सहायक दिखाया।

नोट—५ पं० रामकुमारजी, पांडेजी—चार चौपाइयोंमें 'मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण' चारों प्रयोगोंका रजसेवनसे भी सिद्ध होना सूचित किया। '***समन सकल भवरुज परिवारू***' अर्थात् भवरोगनाशक है, यह 'मारण' हुआ। सुकृत संभुतनमें लगनेसे शोभा करती है, सब मङ्गल मोहित हो जाते हैं, यह 'मोहन' है '***जन मन मंजु मुकुर मल हरनी***' से 'उच्चाटन' कहा। और, '***गुनगन बस करनी***' से 'वशीकरण' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—६ पं० रामकुमारदास (मणिपर्वत, श्रीअयोध्याजी)—गुरुचरणरजको '***प्रसूती***', '***बस करनी***' और '***मल हरनी***' विशेषण देकर सूचित किया है कि गुरुमहाराज परब्रह्म हैं, गुरुपदरज आद्याशक्ति है जो उत्पत्ति, पालन और संहार तीनों क्रियाओंसे युक्त है। प्रसूतीसे सृष्टि, उत्पत्ति क्रिया, बसकरनीसे पालनशक्ति क्रिया और मलहरनीसे संहार क्रिया सूचित की है।

नोट—७ ग्रन्थकारको ग्रन्थके रचनेमें मानसरोगका डर था, दूसरे रामचरितमानस रचनेके लिये सद्गुणोंसे युक्त होनेकी भी आवश्यकता है। इसलिये केवल मारण और वशीकरणको प्रकट कहा है।

नोट—८ पं० रा० कु०—(क) व्याकरणमें पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—ये तीन लिङ्ग कहे गये हैं। गोस्वामीजीने तीनों लिङ्गोंमें परागका यश गाया है। '***बंदउँ गुरुपद पदुम परागा***' पुँल्लिङ्गका स्वरूप है, '***सुकृत संभुतन बिमल बिभूती***' स्त्रीलिङ्गका स्वरूप है। '***चूरन***' और '***भवरुजपरिवार***' पुँल्लिङ्ग है, तथा '***पराग***' भी पुँल्लिङ्ग है; इसलिये चूर्णको पुँल्लिङ्गकी उपमा दी। '***बिभूती***' स्त्रीलिङ्ग है; इसलिये '***प्रसूती, मल हरनी, बस करनी***' कहा। '***रज***' नपुंसकलिङ्ग है इसलिये उसके सम्बन्धमें आगे २ (१) में '***अंजन***' कहा है।

(ख) यहाँतक यह बताया कि रजकी वचनसे वन्दना करे, यथा—'***बंदउँ गुरु पद पदुम परागा***'; चूर्णरूपसे उसे खाय और अङ्गमें लगावे। पुनः उसमें मनको लगावे; क्योंकि '***जनमन मंजु मुकुर मल हरनी***' है, उसका तिलक करे क्योंकि '***किये तिलक गुन गन बस करनी***' है और नेत्रमें लगावे; यथा—'***गुरुपदरज मृदु मंजुल अंजन***'। इस तरह गुरुपदरजके आश्रित होकर वचन, तन और मनसे सेवन करे। (पं० रा० कु०)

नोट—९ पूर्व जो श्रेष्ठ अनुराग-रस गुण कहा था, वह यहाँ दिखाया। मनरूपी दर्पणका मैल हर लेना और गुणोंको वश कर देना यही अनुराग-रस है। (मा० प्र०)

श्रीगुरुपदनख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥ ५॥

शब्दार्थ—नख=नाखून। मनिगन (मणिगण)=मणियोंका समूह। जोती (ज्योति)=प्रकाश। दिव्य दृष्टि=(नेत्रोंकी) दिव्य ज्योति=देखनेकी अलौकिक शक्ति। शुद्ध बुद्धिमें ज्ञानका प्रकाश। यथा—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (गीता ११। ८) हियँ=हृदय।

अर्थ—श्रीगुरुमहाराजके चरणनखरूपी मणिगणके प्रकाशको सुमिरते ही हृदयमें दिव्य दृष्टि (उत्पन्न) होती है। (मैं उनकी वन्दना करता हूँ)॥ ५॥

नोट—१ जब हृदय शुद्ध हुआ और उसमें शान्ति, क्षमा, दया आदि गुण हुए तब वह ध्यान करने योग्य हुआ, उसमें बढ़िया प्रकाशवाली वस्तुके पानेकी इच्छा हुई। अतः अब ध्यान बताते हैं जिससे दिव्य प्रकाश मिले। (वै०, रा० प्र०)

नोट—२ बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि (क) गोस्वामीजीने पहले गुरुकी वन्दना, फिर गुरुपदकंजकी और तब गुरुपदकमलपरागकी वन्दना की। यथा—*'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुम्', 'बंदौं गुरुपदकंज'* और *'बंदौं गुरुपद पदुम परागा।'* उसी परम्परासे वे यहाँ भी *'बंदौं श्रीगुरुपदनख'* कहते हैं, यद्यपि पदमें *'बंदौं'* नहीं है। (ख) यहाँ *'बंदौं'* पद न देनेमें भी अभिप्राय है कि वे 'गुरु' शब्दके साथ सर्वत्र '*श्री*' विशेषण देना चाहते थे। अर्थात् वे *'बंदौं श्रीगुरुपदकंज'* ,*'बंदौं श्रीगुरुपदपदुम परागा'* कहना चाहते थे और उसी तरह यहाँ *'बंदौं श्रीगुरुपदनख'* लिखना चाहते थे; परन्तु छन्दोभङ्गके विचारसे वे *'बंदौं'* और *'श्री'* दोनों सर्वत्र न लिख सके। तब उन्होंने यह चमत्कार किया कि आदिमें *'पद'* और *'पराग'* के साथ *'बंदौं'* दिया और *'श्री'* यहाँ प्रसङ्गके बीचमें दे दिया जिससे पाठक समझ लें कि *'बंदौं'* और *'श्री'* सबके साथ हैं। (मा० प्र०) इस चमत्कारके उदाहरण और भी ग्रन्थमें मिलेंगे। यथा—*'सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस। जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस॥'* (१। २०८) इसमें राजाको प्रणाम करना नहीं लिखा केवल राजाका आशीर्वाद देना कहा गया और इसी तरह माताको प्रणाम करना लिखा गया है, पर माताका आशीर्वाद देना नहीं लिखा। एक-एक कार्य एक-एक जगह लिखकर दोनों जगह दोनों शिष्टाचारोंका होना जना दिया है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि नखकी वन्दना नहीं करते; क्योंकि गुरुपदकी वन्दना कर चुके हैं। नख पदसे भिन्न नहीं हैं, अतः पद ही हैं। *'रज'* पदसे भिन्न है। इसीसे *'रज'* के साथ *'बंदौं'* शब्द दिया गया और *'नख'* के साथ नहीं दिया गया। [नख पदसे भिन्न नहीं हैं, तथापि *'पद'* से प्रायः तलवेका भाव लिया जाता है। रज तलवेमें होती है, चरणचिह्न तलवेके लिये जाते हैं, इत्यादि। हो सकता है कि इस प्रकार नखको पदसे पृथक् मानकर वन्दना की गयी हो।]

टिप्पणी—१ 'प्रथम 'गुरुपदरजकी वन्दना करके फिर पदनखकी महिमा कहनेका भाव यह है कि रजके सेवनसे मन भवरोगसे रहित हुआ, पुनः विषयसे रहित हुआ। विषय ही मल है, यही कुपथ्य है। यथा—*'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे।'* विषयरहित होनेपर मन नख-प्रकाशके सुमिरनका अधिकारी हुआ। *'दलन मोह तम'* तक मनकी सफाई कही है।'

टिप्पणी—२ *'श्रीगुरपदनख……'* इति। (क) पदनखको मणिगण कहा है और मणिगण लक्ष्मीजीके कटाक्ष हैं। इसलिये *'नख'* के साथ *'श्री'* पद दिया। [ऐश्वर्य या शोभासे युक्त होनेसे *'श्री'* विशेषण दिया। (रा० प्र०) बैजनाथजी *'श्री'* को गुरुका विशेषण मानते हैं। अर्थात् ऋद्धि-सिद्धि, यश, प्रताप, गुण, कीर्ति, भुक्ति, मुक्ति, ज्ञान, भक्ति आदि ऐश्वर्ययुक्त ऐसे श्रीमान् जो गुरु हैं उनके पदनख।]

(ख) *'मनिगन जोती'* इति। पैरोंमें कई नख हैं, इसीसे 'मणिगण' की उपमा दी। क्योंकि दीपावलीमें तेल बत्तीके समाप्त होने और पतङ्गे, पवन इत्यादिसे बाधाका भय रहता है, और वह हिंसा और

उष्णतायुक्त भी है। और मणिमें अखण्ड, एकरस, शीतल, स्वत:प्रकाश रहता है तथा उसमें उपर्युक्त (दीपकवाली) बाधाओंका भय भी नहीं रहता। यथा—*'परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥'* (७। १२०)

(ग) *'जोती सुमिरत……'* इति। यहाँ 'नखों' का स्मरण करना नहीं कहते। नख तो अलग रहे, यहाँ केवल नखोंकी 'ज्योति' का स्मरण करनेका माहात्म्य कहते हैं। यहाँ *'सुमिरे'* न कहकर *'सुमिरत'* कहा; क्योंकि *'सुमिरत'* से तत्काल वा शीघ्र फलकी प्राप्ति सूचित होती है और *'सुमिरे'* से अन्तमें फलकी प्राप्ति समझी जाती है। पुन:, *'सुमिरत'* शब्द देकर मणिगणसे इसमें विशेषता दर्शित की। (रा० प्र०)

(घ) *'दिव्य दृष्टि हियँ होती'* इति। *'दिव्य दृष्टि'* हृदयमें होती है अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, निरावरण, भगवत्स्वरूपका विचार एकरस हृदयमें रहता है, कभी मन्द नहीं पड़ता। (रा० प्र०) *'हियँ होती'* कहनेका भाव यह है कि बाहरसे भी दिव्य दृष्टि होती है; जैसे कि ज्योतिष, यन्त्र, मन्त्र, सिद्धि अथवा किसी देवताकी उपासना इत्यादिसे। पर उससे हृदयके नेत्र नहीं खुलते। इसी तरह सिद्धाञ्जन लगानेसे बाहरकी दृष्टि अधिक हो जाती है, भीतरकी नहीं और नखप्रकाशके स्मरणसे हृदयके नेत्रोंमें दिव्य दृष्टि हो जाती है। (पं० रामकुमार)

नोट—३ 'रजका प्रसङ्ग तो आगे दोहासे फिर उठाया है। यहाँ बीचमें रजका प्रसङ्ग अधूरा छोड़कर नखका माहात्म्य क्यों कहने लगे?' इस शङ्काको उठाकर बाबा जानकीदासजी उसका उत्तर यह देते हैं कि रजसे कामादि रोगोंका नाश हुआ, सुकृत शोभित हुए, मञ्जुल मङ्गल मोद उत्पन्न हुए, मल दूर हुआ और गुणगण वश हुए; परन्तु प्रकाश न देख पड़ा तब रजके निकट नखोंका प्रकाश देख नखोंकी वन्दना प्रकाशप्राप्तिके हेतु करने लगे। नख और रजका आगे मेल दिखाकर दोनोंका प्रसङ्ग एक साथ समाप्त करेंगे। पहले पृथक्-पृथक् इनके गुण दिखाये। नखज्योतिसे आँखें खुलेंगी तब फिर आँखके लिये रज अञ्जनकी जरूरत होगी। यही क्रम लेकर रज, फिर नख, फिर रजके प्रकरण लगाये हैं।

रजका पूरा प्रकरण न समाप्त करनेसे भी यह बात पुष्ट होती है कि *'बंदौं'* और *'श्री'* पदरज और पदनख दोनोंके साथ समझे जायँ। (मा० प्र०)

दलन मोह तम सो-सु-प्रकासू। बड़े भाग उर आवहिं जासू ॥ ६॥

शब्दार्थ—दलन=नाश करनेवाला। **सो सु प्रकासू**=वह सुन्दर प्रकाश। **सोसु प्रकासू**=सूर्यका प्रकाश। **सोसु=सहस्रांशु**=सूर्य। भाग=भाग्य=नसीब; क़िसमत।

अर्थ—१ वह सुन्दर प्रकाश (श्रीगुरुपदनखज्योति) मोहरूपी अन्धकारका नाशक है। (वह नखप्रकाशका ध्यान) जिसके हृदयमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं॥ ६॥ (पं०, वै०, रा० प्र०)

नोट—१ (क) श्रीगुरुपदनखज्योतिसे दिव्य दृष्टिका होना पूर्व कहा अब यह दूसरा गुण बताते हैं कि उससे मोहान्धकार भी नष्ट हो जाता है। *'सु'* प्रकाशका भाव यह है कि दीपकमें ऊपर काजल रहता है, अग्नि, सलाई, तेल, बत्ती, आदिके संयोगसे ही उसमें प्रकाश रहता है, बाधाका भय रहता है, फिर रात्रिहीमें और थोड़ी ही दूर उसका प्रकाश रहता है। सूर्यका प्रकाश तप्त, फिर उसमें धूम, धूलि, मेघ, ग्रहण आदिकी बाधाएँ रहती हैं और फिर वह दिनभर ही रहता है रात्रिमें नहीं। यदि कहें कि मणिमें प्रकाश थोड़ा होता है सो बात नहीं है। स्यमन्तक आदि ऐसी मणि हैं जिनमें सूर्यके समान प्रकाश होता है। मणिका प्रकाश दिन और रात दोनोंमें अखण्ड एकरस रहता है, शीतल है, इत्यादि कारणोंसे उसके प्रकाशको 'सुप्रकाश' कहा। अथवा, मणिमें प्रकाश होता है और गुरुपदनखमें 'सुप्रकाश' है, क्योंकि इसमें पारमार्थिक गुण है और मणिमें केवल प्राकृतिक बाह्य प्रकाश है। (वै०, रा० प०)

(ख) *'बड़े भाग……'* इति। इस कथनसे भी *'सुप्रकास'* पाठ सिद्ध होता है; क्योंकि सूर्यका प्रकाश सबको सुलभ है और 'नखप्रकाश' के लिये कहते हैं कि *'बड़े भाग……'*।' स्यमन्तक आदि मणियाँ सबको प्राप्त नहीं होतीं, बड़े ही भाग्यवान्को मिलती हैं। वैसे ही श्रीगुरुपदनखमें सब सुलभता है। एक यही

बड़ी कठिनाई है कि जब बड़े भाग्य उदय हों तब श्रीगुरुपदमें भक्ति और उनके पदनखप्रकाशका ध्यान हृदयमें आता है। लाखोंमें कोई एक ऐसे बड़भागी होते हैं। गुरुपदानुरागी बड़भागी कहे जाते हैं। यथा—*'जे गुरुपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥'* (२। २५९)

(ग) *'उर आवहिं'* कथनसे सूचित करते हैं कि ले आनेवालेके बसकी बात नहीं है। हृदयमें ले आना उसके अख्तियारके बाहर है। इससे आनेवालेकी इच्छा प्रधान बतायी। अथवा, 'जिसके उरमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं' इस अर्थमें भागी या अभागीका कोई नियम नहीं, जैसे *'गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही'॥* (खर्रा)

अर्थ—२ (श्रीगुरुपदनख-प्रकाश) मोहान्धकारके नाशके लिये सूर्यके प्रकाशके समान है। जिसके हृदयमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं॥ ६॥ (मा० प्र०, मा० म०)

नोट—२ पूर्व नखमें मणिगणवत् प्रकाश कहा और अब सूर्यवत् प्रकाश कहते हैं। मणिवत् प्रकाशसे दिव्य दृष्टि हुई, हृदयके ज्ञान, वैराग्यरूपी नेत्रोंमें देखनेकी शक्ति तो हुई पर रात्रिके अन्धकारके कारण नेत्र बन्द ही रहे। जैसे आँखें कैसी ही नीरोग हों पर रात्रिमें उन्हें सूझता नहीं, इसीसे मनुष्य आँखें बन्द किये पड़े रहते हैं। वैसे ही दिव्य दृष्टि होनेपर भी मोहान्धकारके कारण सूझता नहीं; अतः ज्ञान, वैराग्य नेत्र खुले नहीं, बन्द पड़े रहे। अतः मोहान्धकारके नाशके लिये नखको सूर्यकी उपमा दी। क्योंकि मणिप्रकाशसे रात्रिका नाश नहीं होता, रात्रि तो बिना सूर्योदयके नहीं जाती। यथा—*'बिनु रबि राति न जाइ', 'तुलसी कबहुँक होत नहिं रबि रजनी इक ठाम।'* यहाँ नख सूर्य हैं, शिष्यका हृदय आकाश है, हृदयकी अविद्या अन्धकार रात्रि है। अतएव यह अर्थ समीचीन है। (मा० प्र० अभिप्रायदीपक) (ख) *'सोसु'* यहाँ क्रिया नाम है। सूर्य सर्व रसोंके शोषण करनेवाले हैं, इसीसे *'सोसु'* नाम है। (मा० प्र०)

नोट—३ शङ्का-गुरुपदवन्दनासे *'महामोह तमपुंज'* का नाश तो कर चुके तब यहाँ *'दलन मोह तम'* फिर कैसे कहा?

समाधान—(क) महामोह राजा है। गुरुवचनसे उसका नाश किया। मोह उस राजाका परिवार वा सेवक वा सेना है, उसके लिये वचनकी आवश्यकता नहीं, नख भी नहीं केवल नखप्रकाशमात्र उसके नाशके लिये पर्याप्त (काफी) है। या यों कहें कि मुखियाको मुखसे और प्रजाको चरणसे जीता। (ख) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यहाँ ग्रन्थकारके अक्षर धरनेकी सावधानता है।' पञ्चपर्वा अविद्यामें मोह और महामोह दोनों नाम गिनाये गये हैं। इसीसे गोस्वामीजीने दोनोंका नाश भी पृथक्-पृथक् कहा। पुनः यह बताते हैं कि नखके प्रकाशमें बहुत गुण हैं। मोहान्धकारका नाश करनेमें गुरुके वचन अधिक हैं, यह सूचित किया। (पं० रामकुमारजी)

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के॥ ७॥

शब्दार्थ—उघरना=आवरणरहित होना; खुलना। **बिलोचन**=दोनों नेत्र। **ही**=हिय=हृदय। **बिलोचन ही के**=हृदयके दोनों नेत्र; हियकी आँखें। अर्थात् ज्ञान और वैराग्य। यथा—*'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।'* (७। १२०) **भव रजनी**=संसाररूपी रात्रि।

अर्थ—(श्रीगुरुपदनखप्रकाशसे) हृदयके (ज्ञान-वैराग्यरूपी) निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसाररूपी रात्रिके दोष और दुःख मिट जाते हैं॥ ७॥

नोट—१ *'उघरहिं बिमल·····'* इति। (क) *'उघरहिं'* से पहले उनका बन्द होना पाया जाता है। हृदयके नेत्र तो 'दिव्य दृष्टि' पाकर पहले ही निर्मल थे तो बन्द क्यों रहे? समाधान यह है कि—(१) अन्धा देख नहीं सकता चाहे सूर्यका भी प्रकाश क्यों न हो! यथा—*'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥'* (१। ११५) अतएव मनमुकुरके मलका हरण कहकर नेत्रोंमें (दिव्य दृष्टि) का होना कहा, तत्पश्चात् नखप्रकाशसे अविद्यारात्रिका अन्त कहा। अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश होनेपर ज्ञानप्रकाशरूपी प्रभात हुआ तब निर्मल नेत्रोंका खुलना कहा। (२) नेत्र निर्मल भी हों तो क्या? रात्रिमें तो उन्हें भी

कुछ सूझता नहीं तब बन्द ही भले, खुलकर क्या करें? जैसे सूर्योदय होते ही रात्रि मिट जाती है, उजाला होते ही मनुष्य सोतेसे जाग उठते हैं; नेत्र आप-ही-आप खुल जाते हैं; वैसे ही नखप्रकाशसे संसाररूपी रात्रि मिटते ही मोहान्धकार दूर हुआ, ज्ञान-वैराग्यरूपी नेत्र स्वयं खुल गये। (३) नेत्रके देवता सूर्य हैं और ज्ञान-वैराग्यरूपी नेत्रोंके देवता श्रीगुरुपदनखरूपी सूर्य हैं। बिना देवताके इन्द्रियोंमें प्रकाश नहीं होता। इसीलिये हृदयके नेत्र बन्द पड़े रहे। जब श्रीगुरुपदनखरूपी सूर्यदेवताका प्रकाश मिला तब खुले। (ख) **'बिमल बिलोचन'** इति। **'बिमल'** कहनेका तात्पर्य यह है कि ज्ञान, वैराग्यका जो रूप है वह सदा निर्मल रहता है। अथवा भाव यह है कि जबतक भवरजनीके मोहान्धकार-रूपी दोष और (विचारका न सूझना रूपी) दुःखसहित रहे तबतक किसी वस्तुकी यथार्थ पहचान न होती थी। (पं० रामकुमारजी) (ग) प्रथम विषय है तब इन्द्रियाँ। इसीसे प्रथम **'सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती'** कहकर दृष्टिकी शुद्धता कही तब विषयेन्द्रिय **'लोचन'** की शुद्धता कही गयी। (पं० रामकुमार) (घ) **'मिटहिं'** से फिर न आना सूचित किया। (पं० रा० कु०)

नोट—२ **'दोष दुख भव रजनी के'** इति। (क) श्रीबैजनाथदासजी कहते हैं कि मर्यादारहित काम करनेसे दोष होता है और उसका फल दुःख होता है। जैसे परस्त्रीगमन, चोरी आदि दोष रात्रिमें ही होते हैं जिसका फल अपयश और राजदण्ड आदि दुःख होता है। वैसे ही भवरात्रिमें इन्द्रियोंके विषय जैसे कानोंसे परनिन्दा या कामवार्ता सुनना, त्वचासे परस्त्रीका स्पर्श करना, नेत्रोंसे स्त्री आदिको देखना, रसनासे परदोष गाना, भक्ष्याभक्ष्य खाना इत्यादि दोष हैं। मन विषयोंमें लगकर बुद्धिको भ्रष्ट कर देता है जिससे अनेक योनियोंमें भ्रमना होता है। इत्यादि दोष हैं। जन्म, जरा, मरण, त्रयताप, नरक, गर्भवास आदि दुःख हैं। (ख) बाबा जानकीदासका मत है कि रात्रिमें अन्धकार दोष है। (मा० प्र०, रा० प०) चोर, सर्प, बिच्छू आदिका भय [व दुःस्वप्न। (रा० प०)] दुःख हैं वैसे ही भवरजनीका दोष अविद्या, अज्ञान आदि हैं जिससे जीव आत्मस्वरूप भूल गया और कामक्रोधादि सर्प आदिका भय (तथा मोहादिके कारण सूझ न पड़ना) दुःख है। (मा० प्र०) [अथवा, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःख हैं। (रा० प्र०)]

नोट—३ विनय-पत्रिकाके पद ७३, ७४ *'जागु, जागु, जागु जीव जोहै जग-जामिनी। ......'* और *'जानकीसकी कृपा......'* से इस अर्धालीके भाव बहुत स्पष्ट हो जाते हैं। वहाँ भी संसाररूपी रात्रिका ही प्रसङ्ग है। रात्रिमें मनुष्य स्वप्न देखता है कि उसका सिर काट लिया गया, वह राजासे रंक हो गया इत्यादि, जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। वैसे ही संसाररूपी रात्रिमें मोहवश मनुष्य सुत, वित्त, कलत्र, देह, गेह, नेह आदिको सत्य जानकर उसीके कारण त्रिताप सहता है। यह संसाररात्रि मोहमय है। यथा—*'देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी॥ सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे। बूड्यो मृग-बारि खायो जेवरी-के साँप रे॥ ...... दोष-दुःख सपनेके जागे ही पै जाहिं रे॥ तुलसी जागे ते जाय ताप तिहूँ ताय रे......'* (पद ७३। १—४) मोहमयरूपी भवरात्रि अपना स्वरूप भुला देती है। वासना, मोह, द्वेष आदि भवनिशाका निविड़ अन्धकार है जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मद, मान आदि निशाचरों और चोरोंका भय रहता है। सबेरा होना ज्ञानरूपी सूर्यका उदय है। इससे अन्धकार मिट जाता है, चोर आदि भाग जाते हैं, त्रयताप दूर हो जाता है। यथा—*'अब प्रभात प्रगट ग्यान-भानुके प्रकाशु बासना, सराग मोह-द्वेष निबिड़ तम टरे॥ भागे मद-मान चोर भोर जानि जातुधान काम-कोह लोभ-छोभ, निकर अपडरे। देखत रघुबर-प्रताप, बीते संताप-पाप-ताप त्रिबिधि।......'* (पद ७४)

नोट—४ मा० प्र० में चोर, सर्प, बिच्छू आदिसे दुःख कहा है। भवरात्रिमें मत्सर, मान, मद, लोभ आदि चोर हैं। यथा—*'मत्सर मान मोह मद चोरा।'* (७। ३१) *'मम हृदय भवन हरि तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥ ......तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा॥'* (विनय० १२५। २, ४) संशय अथवा रागादि सर्प हैं। यथा—*'संसय सर्प ग्रसन उरगादं।'* (३। ११) *'रागादि-सर्पगन-पन्नगारि।'*

(विनय० ६४) भोगादि बिच्छूके डंक हैं। यथा—*'भोगौघ वृश्चिक-विकारं॥'* (विनय० ५९) मोह अन्धकार है। यथा—*'प्रबल अविद्याकर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥'* (७। ११८)

नोट—५ यहाँ नखप्रकाशमें फिर विशेषता दिखाते हैं कि वहाँ तो फिर रात्रि आती है, अन्धकार छा जाता है, नेत्र बन्द हो जाते हैं और दुःस्वप्न होता है इत्यादि। पर श्रीगुरुपदनखप्रकाशसे जो प्रभात होता है वह सदा बना रहता है, निर्मल नेत्र फिर बन्द नहीं होते और न अज्ञानादि तम और त्रयताप आदि दोष दुःख होते हैं। पुनः सूर्य बहिरङ्ग-प्रकाशक है और नख अन्तरङ्ग-प्रकाशक हैं, यह विशेषता है। (रा० प्र०)

नोट—६ नखमणिसे नेत्रोंमें दिव्य दृष्टि हुई। अब रात बीतनेपर नेत्र खुले। प्रभात होनेसे सब वस्तुएँ सूझने लगती हैं यही आगे कहते हैं।

सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥ ८॥

शब्दार्थ—सूझना=देख पड़ना; दिखायी देना। मनि=बहुमूल्य रत्न। .जवाहिर। जैसे—हीरा, पन्ना, मोती आदि। यह कई प्रकारकी होती है। गजमणि, सर्पमणि इत्यादि। यथा—*'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥'* (१। ११), *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥'* (१। १५१) इन उद्धरणोंमें सर्पमणिको मणि, गजमणिको मुक्ता और पर्वतसे प्राप्तको माणिक्य कहा है। पर उत्तरकाण्डमें पर्वतसे निकले हुए रत्नको भी मणि कहा गया है। यथा—*'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। ''''पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥'''' पाव भगति मनि सब सुख खानी॥'* (७। १२०) **मानिक** (माणिक्य)=लाल रङ्गका एक रत्न जो 'लाल' कहलाता है। पद्मराग; चुन्नी; याकूत। गुपुत (गुप्त)=छिपा हुआ। **खानिक**=खान; खदान।=खानका। **खानि** (सं०)=वह स्थान जहाँसे धातु, पत्थर, रत्न आदि खोदकर निकाले जाते हैं। खान; उत्पत्तिस्थान।

अर्थ—१ श्रीरामचरित्ररूपी मणिमाणिक्य गुप्त या प्रकट जहाँ जो जिस खानिमें हैं, दिखायी देने लगते हैं॥ ८॥

अर्थ—२ श्रीरामचरितरूपी मणिमाणिक्य जो जहाँ और जिस खानिमें गुप्त हैं (वे सब) प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। (भाव यह कि मणि और माणिक्य दोनों ही गुप्त होते हैं सो वे दोनों प्रकट हो जाते हैं।)

नोट—१ *'रामचरित. मनि मानिक'* इति। श्रीरामचरितमें मणि और माणिक्य दोनोंका आरोप है। कारण यह कि—(क) चरित गुप्त और प्रकट दो तरहके कहे गये हैं इसीसे मणि और माणिक्य दोसे रूपक दिया गया। मणि गुप्त है, माणिक्य प्रकट है। मणि हाथीके मस्तकके भीतर गुप्त है, सर्पके मस्तकमें गुप्त है। गज और सर्प (जिनमें मणि होती है) यद्यपि संसारमें हैं तथापि दैवयोगसे भले ही मिल जायँ, भेदीका वहाँ गम्य नहीं है। वैसे ही अनुभवी सन्तरूपी मणिसर्प या गज संसारमें हैं जिनके हृदयमें अनुभव किया हुआ श्रीरामचरित्र गुप्त है; पर वे श्रीरामकृपासे ही मिलते हैं। यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥'* (७। ६९), *'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'* (५। ७) भक्तिमणिके विषयमें जैसा कहा है कि *'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥'* (७। १२०) वैसा ही यहाँ श्रीरामचरितमणि संसारमें होनेपर भी दैवयोगसे ही मिलता है।

माणिक्य पर्वत और खानोंमें होता है। पर्वत प्रकट है। भेदी जानते हैं। वैसे ही वेदपुराणरूपी पर्वतोंमें श्रीरामचरित गुप्त है। सज्जन पण्डित इसके मर्मी हैं। यथा—*'पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥ मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥ भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥'* (७। १२०) माणिक्य भेदीसे मिलता है इसीसे उसे *'प्रगट'* कहा। इसी तरह बाह्यचरित्ररूपी माणिक्य विद्वान् सज्जनोंसे मिलता है।

'मणि' प्रथम है तब 'माणिक्य', वैसे ही दूसरे चरणमें प्रथम *'गुपुत'* है तब *'प्रगट'*। इस प्रकार यहाँ 'यथासंख्य वा क्रमालङ्कार' है। मणि गुप्त है, माणिक्य प्रकट है।

(ख) (पं० शिवलालपाठकजीके मतानुसार) सगुण और निर्गुण दो प्रकारके चरितोंके लिये दो उपमाएँ दीं। सगुणयश माणिक्यवत् वेदपुराणरूपी पर्वतोंमें है; यह प्रकट है। और निर्गुण ब्रह्म सब संसारमें व्यापक है। निर्गुणका चरित मणिवत् संसाररूपी सर्पमें स्थित है। यह गुप्त है। (मा० म०)

नोट—२ ***'गुपुत प्रगट जहँ जो'*** इति। 'गुप्त' चरित कौन हैं और 'प्रगट' कौन हैं इसमें भी कुछ मतभेद है।

गुप्त	प्रकट
१ ऐश्वर्य वा रहस्यके चरित गुप्त हैं। यथा— ***'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।''''''*** (१। १९५) ***'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥'*** (२। २४४) ***'मुनि समूह महँ बैठे सन्मुख सब की ओर।'*** (३। १२) ***'सीता प्रथम अनल महुँ राखी।''''''प्रभुचरित काहु न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे॥'*** (६। १०७-१०८) ***'अमित रूप प्रगटे तेहि काला।''''''उमा मरम यह काहु न जाना।'*** (७। ६) (पाँ०, वै०)	१ माधुर्यचरित प्रकट हैं जो सब देखते हैं। दशरथनन्दनरूपसे जन्म, बाल आदि अवस्थाएँ, विवाह, वनवास आदि सब प्रकट हैं; सब जानते हैं।
२ वेद-पुराणादिमें जो संक्षेपसे कहे गये हैं। (पं०)	२ वेद-पुराणोंमें जो विस्तारसे कहे हैं।
३ अनेक बारके अवतार गुप्त हैं। (वै०, रा० प्र०)	३ जय-विजय, जलन्धर, हरगण और भानुप्रताप रावणके लिये जो अवतार हुए वे 'प्रकट' हैं।
४ अनुभवसे उत्पन्न जो चरित हैं वे गुप्त हैं। (मा० प्र०)	४ वेद-पुराणमें जो चरित हैं।
५ कौसल्या अम्बा तथा भुशुण्डिजीको एवं सतीजीको जो अद्भुत दर्शन कराया वह गुप्त।	५ दशरथ-अजिरमें खेलना प्रकट॥
६ पुण्यपर्वतरूपी हृदयगुफाके निर्गुण ब्रह्मका यश गुप्त। (मा० म०)	६ सगुण यश जो वेद-पुराणोंमें है वह प्रकट।

नोट—३ ***'जो जेहि खानिक'*** इति। (क) श्रीरामचरित कई खानिके हैं। कहीं तो धर्मोपदेशरूपमें कहीं योग, ज्ञान, वैराग्योपदेशरूपमें और कहीं लोकसम्मति उपदेशरूपमें हैं। सबको मिला न दे, अलग- अलग ही रखे। (रा० प०) (ख) (मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि) ***'खानि'*** से अर्थ उन अनेक रसके रङ्गोंका है जिनमें श्रीरामजीके चरित्रोंका वर्णन किया गया है। जैसे शृङ्गाररस श्याम, करुणरस पीत, वीररस लाल और शान्तरस श्वेत है इत्यादि। (ग) ***'जो जेहि खानिक'*** अर्थात् जो जहाँ जिस रङ्गके थे। तात्पर्य कि जैसे मणि-माणिक्य अनेक रङ्गके होते हैं वैसे ही प्रभुके चरित अनेक रङ्गोंके हैं। कहीं शृङ्गाररसका चरित है जैसे पुष्पवाटिकामें। कहीं करुणरसके चरित हैं जैसे श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर। इत्यादि ठौर-ठौरपर अनेक रसोंके चरित हैं। (घ) ***'सूझहिं'*** अर्थात् श्रीगुरुनखप्रकाश हृदयमें आनेसे सब गुप्त एवं प्रकट चरित जो जहाँ भी और जिस रसमें हैं प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं।

टिप्पणी—(अ) पूर्व प्रकाशका होना कहा था और इस अर्धालीमें 'प्रकाश हुएका रूप' दिखाया गया। (आ) इस प्रकरणमें सात आवृत्तियाँ हैं। (१) यह मुक्त, मुमुक्षु, विषयी त्रिविध प्रकारके जीवोंद्वारा सेव्य है। (२) तन-मन-वचनसे सेव्य है। (३) मोहन, वशीकरण, मारण और उच्चाटन चारों प्रयोग इसीसे सिद्ध हो जाते हैं यह बताया गया। (४) रजमें सात गुण कहे गये और सात ही गुण नखप्रकाशमें कहे। यथा, ***'समन सकल***

१ भवरुज परिवारू।' 'सुकृत संभुतन २ बिमल बिभूती।' 'मंजुल मंगल ३ मोद ४ प्रसूती।' 'जन मन मंजु मुकुर मल ५ हरनी', 'किए तिलक गुनगन ६ बस करनी।' और *'नयन अमिय दृग दोष ७ बिभंजन।* ये रजके सात गुण हैं। तथा *'सुमिरत दिव्य १ दृष्टि हियँ होती।' 'दलन मोह तम' २, 'उघरहिं ३ बिमल बिलोचन ही के।' 'मिटहिं दोष ४ दुख ५ भव रजनी के।'* और *'सूझहिं रामचरित मनि मानिक।'* (गुपुत ६ प्रगट ७) ये नखप्रकाशके सात गुण हैं। (५) रजकी महिमा पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग तीनों लिङ्गोंमें गायी गयी। (६) रजका छः प्रकारसे सेवन बताया गया। (क) मुखमें खाये। यथा—*'अमियमूरिमयचूरन चारू।'* 'चूर्ण' खाया जाता है। (ख) देहमें लगाये। यथा—*'सुकृत संभुतन बिमल बिभूती।'* भस्म देहमें लगायी जाती है। (ग) मनसे ध्यान करे। यथा—*'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।'* मनसे ध्यान करनेसे मल दूर होता है। (घ) तिलक करे। यथा—*'किये तिलक गुनगन बस करनी।'* (ङ) नेत्रमें लगाये। (यह आगे कहते हैं) यथा—*'नयन अमिअ दृगदोष बिभंजन।'* (च) स्तुति करे। यथा—*'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं""।'* यह उसकी प्रशंसा हुई। (७) रजसे भवरोगका मिटना कहा, नखप्रकाशसे भवरजनीके दोष एवं दुःखका दूर होना कहा, रामचरितका सूझना कहा जिससे भव भी मिटा। **इति सप्तमावृत्तिः।**

दो०—जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥ १॥

शब्दार्थ—**अंजन**=आँखोंकी रोशनी ठीक रखनेके लिये पलकोंके किनारेपर लगानेकी वस्तु। सुरमा; काजल। **सुअंजन**=सुन्दर अंजन=सिद्धाञ्जन। तन्त्रशास्त्रमें अनेक सिद्धाञ्जन लिखे हैं जिन्हें आँखमें लगा लेनेसे पर्वतमें रत्नोंकी खानें, वनमें ओषधियाँ, पृथ्वीमें गड़ी हुई वस्तु, खजाना आदि, घर-गाँव इत्यादिमें अनेक कौतुक सहज ही दीखने लगते हैं। **अंजि (आँजि)**=आँजकर; लगाकर। **दृग**=नेत्र। **साधक**=साधन करनेवाला। **सिद्ध**=जिसका साधन पूरा हो चुका; सिद्धिको प्राप्त प्राणी। **कौतुक**=तमाशा।=सहज ही। **सैल** (शैल)=पर्वत। **बन**=जंगल; जल। **भूतल**=पृथ्वीतल=पृथ्वीमें। **भूरि**=बहुत-से। **निधान**=वह स्थान जहाँ जाकर कोई वस्तु लीन हो जाय; लयस्थान।=जिस पात्रमें धन रखकर पृथ्वीमें छिपा दिया जाता है उस पात्रको 'निधान' कहते हैं। यथा—**'द्रव्यं निधाय यत्पात्रं भूमौ संस्थाप्य गोपयेत्। तत्पात्रं च निधानं स्यादित्युक्तं कोशकोविदैः॥'** (पं० रामकुमारजी)=गड़ा हुआ खजाना या धन।=निधि। (श० सा०; रा० प्र०; पं०)

अर्थ—१ जैसे नेत्रोंमें सिद्धाञ्जन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान पर्वत, वन और पृथ्वीतलमें समूह-निधान कौतुक ही (अर्थात् साधारण ही, सहज ही, अनायास) देख लेते हैं॥ १॥

नोट—१ इस दोहेके अर्थ भी अनेक प्रकारसे टीकाकारोंने लिखे हैं। *'साधक सिद्ध सुजान'* के और अर्थ लोगोंने ये किये हैं—(क) साधक और सिद्ध जो सुजान अर्थात् प्रवीण हैं। (पं०) (ख) साधक लोग सुजान सिद्ध होकर (वै०)। (ग) ज्ञानवान् कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले सिद्धलोग। (वि० टी०) (घ) चतुर साधक सिद्ध हो जाते हैं। इसी तरह *'कौतुक देखहिं'* और *'भूरि निधान'* के भिन्न-भिन्न अर्थ लेनेसे कई अर्थ हो गये हैं।

अर्थ—२ जैसे नेत्रोंमें सिद्धाञ्जन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान पर्वत, वन और भूतलपर अनेक लयस्थानोंमें कौतुक देखते हैं।*

नोट—२ ऊपर कहा है कि श्रीगुरुपदनखप्रकाशसे हृदयके नेत्र खुल जाते हैं और जहाँ भी जो श्रीरामचरित मणि-माणिक्य हैं वे देख पड़ते हैं। कैसे देख पड़ते हैं? यह विशेषसे समता दिखाकर बताते

---

* ३ पंजाबीजी एवं बाबा हरिहरप्रसादजीने इस दोहेका अर्थ यह भी दिया है कि 'गुरुपदरजके प्रभावसे साधक सिद्ध पदवीको प्राप्त होते हैं और शैल, वन, पृथ्वी और बढ़िया अनेक निधियोंको मायाका कौतुक जानकर देखते हैं अर्थात् मिथ्या जानते हैं।' ४ मा० मा० में उत्तरार्धका यह अर्थ है—'पृथ्वीके पूर्णनिधि (स्वरूप) कौतुकोंको (यथार्थ) देखते हैं।'

हैं कि जैसे *'साधक सिद्ध······'।* इस तरह यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है। *'यथा'* का सम्बन्ध इस प्रकार पूर्वसे है। पुनः, 'यथा' का सम्बन्ध आगे 'रज, अञ्जन' से भी है। अर्थात् *'यथा सुअंजन अंजि······'* तथा *'गुर पदरज मृदु मंजुल अंजन।······ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित'······ ॥* पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यहाँतक चार चौपाइयों (अर्धालियों) में रजका माहात्म्य और चारहीमें नखके प्रकाशका माहात्म्य कहा। अब दूसरी बात कहते हैं। वह यह है कि जैसे साधक आदि सुअञ्जन लगाकर पृथ्वीका द्रव्य देखते हैं, वैसे ही मैं गुरुपदरजरूपी अञ्जनसे विवेकरूपी नेत्रोंको साफ करके रामचरित वर्णन करता हूँ।' इस तरह *'यथा सुअंजन······'* उपमान वाक्य हुआ और *'गुरु पदरज······'* उपमेय वाक्य हुआ। *'यथा······'* यह वाक्य दीप-देहली-न्यायसे इस प्रकार दोनों ओर है। ऐसा करके कविने पदनखप्रकाश और पदरज दोनोंका यहाँ मिलाप कराया। इस प्रसङ्गसे मिलता हुआ एक श्लोक पण्डितजीने संस्कृत खर्रेमें यह दिया है। '**तद्वत्सारस्वतीं चक्षुः समुन्मीलतु सर्वदा। यत्र सिद्धाञ्जनायन्ते गुरुपादाब्जरेणवः॥**' अर्थात् जैसे ब्रह्मविद्यारूपी अञ्जन हृदयके नेत्रोंको खोल देता है वैसा ही समझकर सिद्ध लोग श्रीगुरुचरणकमलकी रजको अञ्जनवत् लगाते हैं।

'साधक सिद्ध सुजान' इति।

पं० रामकुमारजी—'साधक, सिद्ध, सुजान तीन ही नाम क्यों दिये? साधकको प्रथम क्यों रखा?' उत्तर—जीव तीन प्रकारके हैं। मुक्त, मुमुक्षु (वैराग्यवान् परमार्थतत्त्वका इच्छुक) और विषयी। यथा—*'सुनहिं विमुक्त बिरत अरु बिषई।'* (७। १४) *'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव······।'* (२। २७७) इसीसे यहाँ तीन नाम दिये। इससे यह सूचित किया कि जैसे सिद्धाञ्जन लगानेमें मनुष्यकी योग्यता आदिका कोई नियम नहीं है, कोई भी हो जो लगायेगा उसको अञ्जनसे दीख पड़ेगा; वैसे ही तीनों प्रकारके जीवोंमें कोई भी हो, सभी रजके अधिकारी हैं। नखके प्रकाशके अधिकारी भाग्यवान् ही हैं, सब नहीं। साधकको प्रथम रखा, क्योंकि द्रव्यके देखनेमें साधक (जो अर्थार्थी होते हैं) मुख्य हैं।

पं० शिवलाल पाठकजी—कर्म, ज्ञान और उपासना तीन भेदसे तीन नाम दिये। संसारमें कर्मकाण्डी, ज्ञानी और उपासक तीन प्रकारके लोग हैं। कर्मकाण्डी साधक हैं, ज्ञानी सिद्ध हैं और उपासक सुजान हैं। पुनः इस ग्रन्थमें चार संवाद हैं। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद, शिव-उमा-संवाद, भुशुण्डि-गरुड़-संवाद और तुलसी-सन्त-संवाद। इनमेंसे याज्ञवल्क्यजी कर्मकाण्डी हैं, कर्मकाण्डके आचार्य हैं, अतः ये साधक हैं। श्रीशिवजी ज्ञानी हैं अतः ये सिद्ध हैं और श्रीभुशुण्डिजी उपासक हैं अतः ये सुजान हैं। जैसे ये तीनों श्रीरामचरितमणिमाणिक्यको शैल, वन और भूतलमें देखते हैं और इन्होंने चरित कहा, वैसे ही मैं श्रीगुरुपदरज-अञ्जन लगाकर सन्तोंसे कहूँगा।

'सैल, वन, भूतल भूरिनिधान' इति।

(१) यहाँ रामचरितके सम्बन्धमें 'शैल, वन, भूतल' क्या हैं? उत्तर—(क) वेद-पुराणादि शैल हैं। यथा—*'पावन पर्वत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥'* (७। १२०)। संसार ही वन है जिसमें अन्तर्यामी-रूपसे श्रीरामजीके अनेक चरित हुआ करते हैं। यथा—*'संसार, कांतार अति घोर, गंभीर, घन······।'* (विनय० ५९)। अनुभवी सन्तों, भक्तोंका हृदय भूतल है। यथा—*'संकर-हृदय-भगति-भूतलपर प्रेम-अछयबट भ्राजै॥'* (गीतावली ७। १५) [सन्तसमाज वा सत्सङ्ग भूतल है। (मा० म०, वै०)] अथवा, (ख) चित्रकूट, सुबेल आदि पर्वत हैं, दण्डकारण्य आदि वन हैं और श्रीअवध-मिथिला आदि भूतल हैं, जहाँ-जहाँ प्रभुके चरित हुए हैं वहाँ-वहाँ जैसे-जैसे चरित्र और जब-जब हुए सब देख पड़ते हैं। (पं०)

(२) सिद्धाञ्जन लगानेसे पर्वतमें रत्नोंकी खानें, वनमें दिव्य ओषधियाँ, (वनका अर्थ जल लें तो

जलमें मुक्तावाली सीप जहाँ होती है उसे देख लेते हैं), और भूतलमें गड़ा हुआ धन देखते हैं। वैसे ही श्रीगुरुपदरजअञ्जन लगानेसे वेद-पुराणादिमें माणिक्यरूप सगुण यश, संसाररूपी वनमें जीवमात्ररूपी सर्पमें गुप्त मणिवत् अगुण रामचरित और सन्तसमाजरूपी भूतलमें सगुण-निर्गुण-मिश्रित गुप्त एवं प्रकट चरित्र देखते हैं। (अ० दी०)

(३) पं० शिवलाल पाठकजीका मत है कि 'कर्मकाण्डीको केवल मीमांसा और वेदरूपी पर्वतका अधिकार है, ज्ञानी संसार-वनके अधिकारी हैं और उपासकोंको सत्सङ्ग भूतल ही आधार है। सुतरां कर्मकाण्डीको पावन पर्वत वेदमें माणिक्यवत् श्रीरामचरित, ज्ञानी ज्ञानके अवलम्बसे संसारवनमें जीवमात्रमें गुप्तमणिवत् निर्गुण रामचरित और उपासक भक्तिके अवलम्बसे सन्तसमाजरूपी भूतलमें सगुण एवं निर्गुण मणि-माणिक्यवत् गुप्त और प्रकट दोनों प्रकारके चरित देखते हैं।' (मा० मा०) यहाँ यथासंख्याक्रमालङ्कार है। कर्मकाण्डी लौकिक-तत्त्व, ज्ञानी वैदिक तत्त्व और उपासक सत्सङ्ग-तत्त्व देखते हैं।

(४) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि शैल, वन और भूतल तीनहीका नाम देनेका भाव यह है कि जगत्में तीन स्थान हैं। नभ, जल और थल (भूतल)। शैलसे नभ, वनसे जल और भूतलसे थल (भूमि) कहा। तात्पर्य यह कि सब जगहके द्रव्य दीख पड़ते हैं। अतएव ये तीन आकर कहे।

(५) बाबा हरिहरप्रसादजी *'भूरि निधान'* का अर्थ 'सम्पूर्ण ऐश्वर्य' करते हैं। श्रीरामचरितसम्बन्धमें 'नित्य-नैमित्य-लीला' अर्थ है। (रा० प्र०)

गुरुपदरज* मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन॥ १॥

तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन॥ २॥

शब्दार्थ—**मृदु**=कोमल। **नयन**=नेत्र। **नयन अमिय**=नयनामृत। **बिभंजन**=पूर्णरूपसे नाश करनेवाला, नाशक। **बिबेक**=सत्-असत्का ज्ञान करानेवाली मनकी शक्ति।=ज्ञान। **मोचन**=छुड़ानेवाली।

अर्थ—(वैसे ही) श्रीगुरुपदरज कोमल-सुन्दर 'नयनामृत' अञ्जन है जो नेत्रोंके दोषोंको पूर्णरूपसे नाश करनेवाला है॥ १॥ उससे विवेकरूपी नेत्रोंको निर्मल करके (अथवा, उसे निर्मल विवेकरूपी नेत्रोंमें लगाकर†) भव (संसार, आवागमन) को छुड़ानेवाला श्रीरामचरित वर्णन करता हूँ॥ २॥

टिप्पणी—१ *'मृदु मंजुल अंजन।·····'* इति। (क) प्राकृत अञ्जन जो ओषधियोंसे बनता है और श्रीगुरुपदरज-अञ्जन इन दोनों सिद्धियोंको तोलते हैं। ओषधि-अञ्जन प्रायः कटु होता है, आँखोंमें लगता है और प्रायः श्याम रङ्गका होता है जिससे चञ्चलता उत्पन्न होती है। रज-अञ्जन *'मृदु'* अर्थात् कोमल है, कर्कश और नेत्रोंको दुःखदाता नहीं है। तथा *'मंजुल'* अर्थात् नेत्रोंको सुन्दर करनेवाला है। पुनः, *'मृदु मंजुल'* कहकर लगानेमें 'मृदु' और देखनेमें सुन्दर सूचित किया। (ख) *'नयन अमिय'* इति। जैसे अञ्जनका कुछ-न-कुछ नाम होता है, वैसे ही इस रज-अञ्जनका भी कुछ नाम होना चाहिये। वही यहाँ बताते हैं। अर्थात् इसका नाम 'नयनामृत' है। तात्पर्य कि विवेकरूपी नेत्रोंके लिये यह अमृतके समान है। (मा० प्र०)। [अथवा, लौकिक व्यवहारमें भी एक 'नयनामृत' नामका अञ्जन है जो शोधा सीसा, पारा और उतना सुरमा तथा उन सबोंका दशांश भाग भीमसेनी कपूर मिलाकर घोटनेसे बनता है वह आँखोंमें लगता नहीं। रजकी उससे समता दी। (वै०)] (ग) *'दृग दोष बिभंजन'* इति। 'नयनामृत' नाम बताकर उसका गुण बताया कि 'दृग्दोषको दूर करनेवाला' है। बाह्य-नेत्रोंके दोष, धुन्ध, माड़ा, फूली, मोतियाबिन्द, तिमिर

* गुरुपद मृदु मंजुल रज—१७२१, १७६२, भा० दा०। गुरुपदरज मृदु मंजुल-१७०४, छ०, को० रा० पं० शिवलाल पाठक।

†(१) कोष्ठकान्तर्गत अर्थ इस भावसे होगा कि पूर्व नखप्रकाशसे निर्मल विवेक नेत्र खुल चुके हैं, अब, केवल उनमें रज-अञ्जन लगाना है। यह अर्थ श्रीनंगे परमहंसजीका है। प्रायः और सबोंने दूसरा अर्थ दिया है। उसका भाव टिप्पणीमें पं० रामकुमारजीने दिया है। (२) विनायकीटीकाकारने 'नयन अमिय' का अर्थ 'जो नेत्रोंको अमृतके समान है अर्थात् हृदयको शीतलता और विवेकको स्थिरता देनेवाला है' ऐसा लिखा है।

आदि हैं जो प्राकृत अञ्जनसे दूर होते हैं। श्रीगुरुपदरजसे *'बिबेक बिलोचन'* को निर्मल करना आगे कहते हैं, उसके सम्बन्धसे विवेक-(अथवा ज्ञान-वैराग्य-) रूपी नेत्रोंमें क्या दोष है? बाबा जानकीदासजीका मत है कि अहं-मम-बुद्धि ज्ञान-वैराग्य नेत्रोंके दोष हैं; मैं ज्ञानी हूँ, मैं वैराग्यवान् हूँ ये दोष ज्ञानियोंमें आ जाते हैं। काष्ठजिह्वास्वामीका मत है कि किसीको भला जानना, किसीको बुरा यही दोष है जिसे रज मिटा देता है। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि इसे नयनामृत कहा है। अमृत मृतकको जिलाता है। यहाँ और-का-और सूझना, असत्में सत्यका और सत्यमें असत्का भासना, परदोष देखना इत्यादि दोष मृतक दृष्टिके हैं। इनको मिटाकर शिष्यको दिव्य निर्मल दृष्टि प्रदान करना जिससे वह जगत्को निजप्रभुमय देखने लगता है, परदोष-दृष्टि जाती रहती है यही रज-अमृताञ्जनका जीवन देना है। ओषधि अञ्जनमें ये गुण नहीं हैं। रजमें विशेषता दिखायी।

टिप्पणी—२ रजके प्रकरणसे यह चौपाई भिन्न क्यों लिखी? समाधान—प्रथम श्रीगुरुपदरजका माहात्म्य कहा। फिर श्रीगुरुपदरज और श्रीगुरुपदनख (प्रकाश) का माहात्म्य कहकर दोनोंका माहात्म्य (दोनोंके गुण) एकही-सा सूचित किया। गोस्वामीजी रजसे ही विवेक-नेत्रको निर्मल करके रामचरित वर्णन करते हैं। ऐसा करके वे जनाते हैं कि हम रजके अधिकारी हैं, नखके नहीं।

नोट—१ गोस्वामीजीने रज-अञ्जन लगाया जो *'मृदु, मञ्जु* और *नयन अमिय.....'* गुणोंसे युक्त है। इसीसे उनका भाषाकाव्य अन्य रामायणोंसे अधिक मृदु, मञ्जुल आदि गुण विशिष्ट हुआ। कविने वाल्मीकीय रामायणको भी *'सुकोमल-मञ्जु-दोषरहित'* कहा है पर इस भाषाकाव्यको 'अतिमंजुल' कहा है। यथा, **'भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति'**। (मं० श्लो० ७। वे० भू०)।

टिप्पणी—३ *'तेहि करि बिमल.....'* इति। (क) विवेक-नेत्रोंको निर्मल करना कहा; क्योंकि श्रीरामचरित ज्ञान-नेत्रसे ही देख पड़ता है। यथा—*'ज्ञान नयन निरखत मन माना।'* (१। ३७)। (ख) *'जथा सुअंजन अंजि.....'* से लेकर यहाँतक दृष्टान्तालङ्कार है। यथा—'चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः।' (कुवलयानन्द ५२), *'वर्न्य अवर्न्य दुहनको भिन्न धर्म दरसाइ। जहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब सो सो दृष्टांत कहाइ॥'* (संस्कृत खर्रा) अर्थात् जहाँ उपमान और उपमेय वाक्योंमें बिम्ब-प्रतिबिम्बभावसे भिन्न धर्म दर्शित किये जाते हैं वहाँ दृष्टान्तालङ्कार होता है। (ग) 'अबतक अन्योक्ति कह आये। अब अपने सन्निधि अर्थात् अपने ऊपर कहते हैं *'तेहि करि बिमल.....।'* फिर दूसरे चरणमें विमलताका धर्म कहते हैं; *'बरनौं रामचरित भवमोचन।'* (खर्रा, रा० प्र०)

टिप्पणी—४ दृग्दोष अर्थात् अज्ञानका नाश हुआ, विवेक खुला। *'तेहि करि'* का भाव यह है कि विवेकनेत्र नखप्रकाशसे भी विमल होते हैं, परन्तु हमने रज-अञ्जनसे उसे विमल किया। तात्पर्य यह है कि सिद्धाञ्जनसे बाहरके नेत्र विमल होते हैं और गुरुपदरज-अञ्जनसे विवेकनेत्र विमल होते हैं, यह गुरुपदरज-अञ्जनमें विशेषता है। उससे विवेकनेत्र विमल करके रामचरित वर्णन करता हूँ, इस कथनका तात्पर्य यह है कि जो कार्य नखके प्रकाशसे होता है वही कार्य रजसे भी होता है।

दोनोंका मिलान

रज	नख-प्रकाश
१ रजसे विवेक-नेत्र निर्मल होते हैं। यथा—*'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन।'*	नख-प्रकाशसे विवेकनेत्र उघरते हैं। यथा—*'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।'*
२ रज-अञ्जन लगाकर रामचरित्र वर्णन करते हैं। यथा—*'बरनौं रामचरित भवमोचन।'*	नखप्रकाशसे रामचरित सूझता है। यथा—*'सूझहिं रामचरित मनि मानिक।'*
३ रजसे भवरोग मिटते हैं। यथा—*'समन सकल भवरुजपरिवारू।'*	नखप्रकाशसे भवरजनीके दुःख-दोष मिटते हैं। यथा—*'मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।'*

नोट— २ (क) रजरूपी चूर्णसे भवरोग मिटा। यथा, ***'समन सकल भवरुज परिवारू।'*** नखसे भवके दोष-दुःख दूर हुए। यथा—***'मिटहिं दोष दुख भव रजनी के'*** और रामचरित्रसे साक्षात् भवका ही नाश हुआ। (ख) ***'भवमोचन'***; यथा—***'करौं कथा भवसरिता तरनी।'*** (१। ३१) **'श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये। ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥'** (समाप्तिपर) (ग) अञ्जन लगाया आँखमें और काम किया 'रामचरित्र वर्णन' इसको 'असङ्गति अलङ्कार' कहते हैं। असङ्गति तीन प्रकारकी होती है। यथा—***'तीन असंगति काज अरु, कारण न्यारे ठौर। और ठौर ही कीजिये और ठौरको काम॥ और काज आरम्भिये और कीजिये दौर॥'*** (मानसरहस्य) यहाँ 'तीसरी असङ्गति' है। (घ) श्रीगुरुजीकी तथा उनके पद, पदरज, पदनखप्रकाशकी वन्दनाके व्याजसे यहाँतक श्रीगुरुदेव तथा श्रीगुरुभक्तिका महत्त्व दिखाया है कि एकमात्र इसी साधनसे सब कुछ सहज ही प्राप्त हो सकता है।

॥ इति श्रीरामचरितमानसान्तर्गत श्रीगुरुवन्दनाप्रकरण समाप्त॥

श्रीसन्तसमाजवन्दनाप्रकरण

बंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोहजनित संसय सब हरना॥ ३॥

शब्दार्थ—**महीसुर**=ब्राह्मण। **चरना**=चरण; पद। **जनित**=उत्पन्न। **संसय**=(संशय)=सन्देह। **हरना**=हरनेवाले।

अर्थ—मैं प्रथम ब्राह्मणोंकी वन्दना करता हूँ (जो) मोहसे उत्पन्न हुए सब सन्देहोंके हरनेवाले हैं।३।

नोट— (१) ***'प्रथम महीसुर'*** इति। अनेक वन्दनाएँ (श्रीवाणी-विनायक, श्रीभवानीशङ्कर, श्रीवाल्मीकिजी, श्रीहनुमान्जी, श्रीसीतारामजी, पञ्चदेव, श्रीगुरु, श्रीगुरुपद, श्रीगुरुपदरज, श्रीगुरुपदनखप्रकाशकी) पूर्व कर आये तब यहाँ ***'बंदौं प्रथम'*** कैसे कहा? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान महानुभावोंने अनेक प्रकारसे किया है।—(क) ***'प्रथम'*** शब्द प्रकरणके साथ है। अर्थात् पहले वाणी-विनायकसे लेकर प्रथम चार सोरठोंतक देवताओंकी (जिनसे चरितमें सहायता मिली इत्यादि) और पञ्चदेवोंकी वन्दना की। फिर पाँचवे सोरठेसे लेकर ***'बरनौं रामचरित भवमोचन।'*** (२। २) तक दूसरा प्रकरण (श्रीगुरुदेववन्दनाप्रकरण) हुआ। अब इस चौपाईसे तीसरा प्रकरण प्रारम्भ किया। उसमें विप्रपदकी वन्दना करते हैं क्योंकि चारों वर्णोंमें ये प्रथम वर्ण हैं। (मा० प्र०) वा, (ख) यहाँ ब्राह्मणके लिये ***'महीसुर'*** पद देकर सूचित किया है कि अभीतक 'स्वर्ग' के देवताओं वा ईश्वरकोटिवालोंकी वन्दना की थी। **'शङ्कररूपिणम्'** और ***'नररूप हरि'*** कहकर श्रीगुरुदेवजीकी गणना भी देवकोटिमें की और उन्हींके साथ उनको रखा। अब भूतलके जीवोंकी वन्दना प्रारम्भ करते हैं। इनमें विप्र ***'महीसुर'*** अर्थात् पृथ्वीके देवता हैं। अतः भूतलके जीवोंमें प्रथम भूदेवकी वन्दना की। ***'महीसुर'*** शब्द देकर उनको पृथ्वीके जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ और प्रथम वन्दनायोग्य जनाया। वा, (ग) ***'प्रथम'*** शब्द ***'बन्दौं'*** के साथ नहीं है किंतु ***'महीसुर'*** के साथ है। ***प्रथम***=प्रथम पूजनीय (जो विप्र हैं)। पर प्रथम पूजनीय तो गणेशजी हैं? ठीक है। पर वे भी तो ब्राह्मणोंद्वारा ही पूजनीय हैं। जब जन्म होता है तब प्रथम ब्राह्मण ही नामकरण करते हैं, नक्षत्रका विचारकर पुजवाते हैं तब गणेशजीका पूजन होता है। इस प्रकार ब्राह्मण सर्वकार्यमें सर्वस्थानोंमें सबसे मुख्य हैं। सर्वकर्मोंमें प्रथम इन्हींका अधिकार है। अतः ब्राह्मणको प्रथम पूजनीय कहा। (मा० प्र०) वा, (घ) ***प्रथम***=मुख्य; जैसे कि वसिष्ठ आदि जिन्होंने स्मृतियाँ बनायीं; ऐसे भाग्यवान् कि श्रीरामजी उनके शिष्य हुए। (रा० प०) (ङ) ***प्रथम महीसुर***=जो ब्राह्मण सबसे प्रथम हुए।=ब्रह्मा वा ब्रह्माके मानसपुत्र श्रीसनकादि जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। पर इसमें आपत्ति यह है कि ब्रह्मा और सनकादिकी वन्दना तो आगे कविने की ही है। दूसरे, (बाबा हरिदासजी कहते हैं कि) ऐसा अर्थ करनेसे अन्य ब्राह्मणोंकी न्यूनता होती है कि वे वन्दनायोग्य नहीं हैं। (च) ब्राह्मण जगत्-विभूतिमें एवं नरोंमें आदि हैं, मैं उनके चरणोंकी वन्दना करता हूँ। (शीला) (छ) ब्राह्मण ऋषियोंसे प्रथम ही हैं अतः ***'महीसुर'*** के साथ ***'प्रथम'*** शब्द दिया। (मा० मा०) अथवा (ज) अबतक तो देवताओं

और गुरुकी वन्दना की, अब रामचरितवर्णनके आरम्भमें महीसुरकी वन्दना करते हैं। (वि० टी०) वा (झ) साधुओंके पहले ब्राह्मणकी वन्दना की अतः *'प्रथम'* कहा। (रा० प्र०) वा (ञ) *महीसुर*=भृगु। *प्रथम*=विष्णुभगवान्। *प्रथम महीसुर चरना*=भगवान्‌के (वक्षःस्थलपरके) भृगुचरणको। (रा० प्र०)

नोट— २ *'महीसुर'* क्यों कहलाते हैं। इसकी कथा स्कन्दपु० प्रभासखण्डमें है कि एक समय देवताओंके हितार्थ समुद्रने ब्राह्मणोंके साथ छल किया जिसको जानकर ब्राह्मणोंने उसको अस्पृश्य होनेका शाप दिया था। शापकी ग्लानिसे वह सूखने लगा तब ब्रह्माजीने आकर ब्राह्मणोंको समझाया। ब्राह्मणोंने उनकी बात मान ली। तब उनका वचन रखने और समुद्रकी रक्षा भी करनेके लिये यह निश्चय किया कि पर्वकाल, नदीसङ्गम, सेतुबन्ध आदिमें समुद्रके स्पर्श, स्नान आदिसे बहुत पुण्य होगा और अन्य समयोंमें वह अस्पृश्य रहेगा और ब्राह्मणोंको वरदान दिया कि आपलोग आजसे पृथ्वीपर 'भूदेव' के नामसे प्रसिद्ध होंगे।

यहाँ *'महीसुर'* कहकर यह दिखाया कि **'मह्यां सुष्ठु राजन्ते'** अर्थात् जो पृथ्वीपर अच्छी प्रकारसे 'दीप्त' (प्रकाशित) हों उनको महीसुर कहते हैं। जैसे स्वर्गमें इन्द्रादि प्रकाशित हैं वैसे ही पृथ्वीपर ब्राह्मण। (न्या० वे० आ० पं० अखिलेश्वरदासजी)

नोट—३ *'मोहजनित संसय सब हरना'* इति। (क) पूर्व तो *'महीसुर'* कहकर वन्दना की और अब विशेषण देकर जनाते हैं कि जिनकी वन्दना करते हैं वे देवतातुल्य हैं अर्थात् वे दिव्य हैं, उनका ज्ञान दिव्य है, वे श्रोत्रिय एवं अनुभवी ब्रह्मनिष्ठ हैं तभी तो 'सब' संशयोंके हरनेवाले हैं। विशेष श्रीगुरुवन्दनामें *'महामोह तमपुंज'''''* मं० सोरठा ५ देखिये। (ख) मोहसे ही संशय होता है, मोह कारण है, संशय कार्य है। इसीसे *'मोहजनित संसय'* कहा। मायावश ज्ञानका ढक जाना और अज्ञानका छा जाना 'मोह' है। यथा— *'प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा।'''''भएउ मोहबस तुम्हरिहिं नाईं।'* (७। ५९) (ग) ये विशेषण साभिप्राय हैं। इसमें ग्रन्थके वर्णित वस्तुका निर्देश है। अर्थात् यह जनाते हैं कि यह ग्रन्थ मोहजनित संशयोंसे ही प्रारम्भ हुआ है, प्रत्येक संवाद जो इसमें आये हैं उनका मूल 'संशय' ही है और उसीकी निवृत्ति इसमें कही गयी है। श्रीरामचरित श्रीभरद्वाजजीके संशयसे प्रारम्भ हुआ। यथा—*'नाथ एक संसउ बड़ मोरें।'* (१। ४५) इसकी निवृत्तिके लिये पार्वतीजीका संशय और उसका श्रीशिवद्वारा निवारण कहा गया। यथा, *'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें।'* (१। १०९) श्रीपार्वतीजीके संशयके निवारणमें श्रीगरुड़जीका संशय और भुशुण्डिजीद्वारा उसका निवारण कहा गया। यथा—*'भयउ मोह बस तुम्हरिहिं नाईं।'''''कहेसि जो संसय निज मन माहीं।'* (७। ५९) *'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ।'* (१। १२०) *'तव प्रसाद सब संसय गयऊ।'* (७। ६९) *'तव प्रसाद संसय सब गयऊ।'* (७। १२५) *'भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा।'* (७। १३०) में भरद्वाजजीके संशयकी निवृत्ति ध्वनित है। बस यहीं श्रीरामचरितकी समाप्ति कवि करते हैं। *'सब संसय'* शब्द जो यहाँ है वही उपर्युक्त दो संवादोंमें भी है। ये विशेषण देकर गोस्वामीजी प्रार्थना करते हैं कि मैं यह कथा सन्देह, मोह, भ्रम हरणार्थ लिखता हूँ, आप कृपा करें कि जो कोई इसे पढ़े या सुने उसके भी संशय दूर हो जायँ। बैजनाथजी लिखते हैं कि गोस्वामीजी कहते हैं कि जहाँ कहीं आप इस कथाको कहें वहाँ इस मेरी प्रार्थनाको समझकर, आप संशय करनेवालोंके संशय शीघ्र हर लिया करें। पुनः, यह विशेषण इससे दिया कि ब्रह्मज्ञान, वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि सबके ज्ञाता ब्राह्मण ही होते आये हैं। पुनः, कथा भी प्रायः ब्राह्मणोंसे ही सुनी जाती है; अतः जो संशय कथामें होते हैं उनका समाधान भी प्रायः उन्हींके द्वारा होता है। (घ) इस विशेषणसे ब्राह्मणोंके लक्षण और कर्तव्य बताये गये जैसा कि महाभारत, भागवत, पद्मपुराणादिमें कहे गये हैं। पहलेके ब्राह्मण ऐसे ही होते थे। (वि० टी०) इससे आजकलके ब्राह्मणोंको उपदेश लेना चाहिये।

सुजन समाज सकल गुन खानी। करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी॥ ४॥

शब्दार्थ—सुजन=सज्जन, साधु, सन्त। समाज=समुदाय। सप्रेम=प्रेमसहित। प्रेमके लक्षण, यथा—*'अन्तर*

'प्रीति उमँगि तन रोम कंठ भरि होइ। बिह्वलता जल नेत्रमें प्रेम कहावै सोइ।।' (वै०) अर्थात् रोमाञ्च, गद्गदकण्ठ, विह्वलता, प्रेमाश्रु इत्यादि प्रेमके लक्षण हैं। **सुबानी=सुन्दर (मधुर-मिष्ठ) वाणीसे।** *'सुबानी'* के लक्षण ये हैं। मीठी, कानोंको सुखद, सत्य, समय सुहावनी और थोड़े अक्षरोंमें बहुत भाव लिये हुए जो वाणी होती है वह *'सुबानी'* है। यथा—*'अर्थ बड़ो आखर अलप मधुर श्रवण सुखदानि। साँची समय सोहावनी कहिये ताहि सुबानि।।'* (वै०)

अर्थ—समस्त गुणोंकी खानि सज्जन-समाजको मैं प्रेमसहित सुन्दर वाणीसे प्रणाम करता हूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सुजन समाज'''''* इति। (क) यहाँ *'सुजन'* शब्द दिया। आगे इन्हींको 'साधु', 'सन्त' कहा है। सुजन (सज्जन), साधु और सन्त पर्यायवाची हैं फिर भी इनके प्रयोगमें कुछ भेद यहाँ दिखाते हैं। वे ये कि *'सकल गुन खानी'* होनेसे 'सुजन' कहा और पराया काज साधनेके सम्बन्धसे *'साधु'* तथा मुद-मङ्गलका विस्तार करनेके सम्बन्धसे *'सन्त'* कहा है। (ख) *'सकल', 'गुन खानी'* इति। इससे जनाया कि जो गुण ग्रन्थारम्भसे यहाँतक कह आये उन सबोंकी खानि हैं। (खर्रा)। [*'सकल गुन खानी'* से वे सब गुण यहाँ सूचित कर दिये जो इस काण्डमें आगे दिये हैं तथा जो अरण्यकाण्डमें *'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ।'* से *'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते।'* (दोहा ४५-४६) तक एवं उत्तरकाण्डमें *'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता'* से *'गुनमंदिर सुखपुंज'* (दोहा ३७, ३८) तक और ग्रन्थमें जहाँ-तहाँ भी कुछ कहे गये हैं। (ग) गुणखानि कहनेका भाव यह है कि जैसे खानिसे सोना, चाँदी, मणि, माणिक्य आदि निकलते हैं, वैसे ही शुभगुण सुजनसमाजमें ही होते हैं, अन्यत्र नहीं। जो इनका सङ्ग करे उसीको शुभ गुण प्राप्त हो सकते हैं। पुनः, *'खानी'* कहकर यह भी जनाया कि इनके गुणोंका अन्त नहीं, अनन्त हैं, कितने हैं कोई कह नहीं सकता। यथा—*'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥'* (३। ४६)] (घ) यहाँ मन, वचन और कर्म तीनोंसे प्रणाम सूचित किया। *'सप्रेम'* से मन, *'सुबानी'* से वचन और *'करौं'* से कर्मपूर्वक प्रणाम जनाया।

टिप्पणी—२ पहले गुरुजीकी वन्दना की, फिर ब्राह्मणोंकी, तब सन्तोंकी। इस क्रमका भाव यह है कि—(क) विप्र श्रीरामरूप हैं। यथा—*'मम मूरति महिदेवमई है।'* (विनय० पद १३९) और गुरु श्रीरामजीसे भी विशेष हैं। यथा—*'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।।'* (२। १२९) यही क्रम ग्रन्थमें चरितार्थ भी है। अर्थात् कर्त्तव्यद्वारा दिखाया गया है। यथा—*'पुनि बसिष्ठ पद सिर तिन्ह नाए । प्रेम मुदित मुनिवर उर लाए॥ बिप्र बृंद बंदे दुहुँ भाई।'* (१। ३०८) यहाँ प्रथम गुरुवसिष्ठको प्रणाम करना कहा है तब ब्राह्मणोंको। पुनः यथा—*'कुल इष्ट सरिस बसिष्टु पूजे बिनय करि आसिष लही। कौसिकहि पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परै कही॥ बामदेव आदिक रिषय पूजे मुदित महीस।'* (१। ३२०) यहाँ दोनों गुरुओंको प्रथम पूजकर तब ब्राह्मणोंका पूजन है। पुनः यथा—*'पूजहु गनपति गुर कुलदेवा। सब बिधि करहु भूमिसुर सेवा।।'* (२। ६) इसमें भी पहले गुरुपूजाका उपदेश है तब ब्राह्मण-सेवाका। पुनश्च *'गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक''''' ॥'* (७। १२८) इसमें भी प्रथम गुरुको कहा है तब द्विजको। (ख) विप्रपदपूजनका फल सन्त-मिलन है, इसलिये प्रथम विप्रचरणकी वन्दना की, तब सन्तकी। यथा—*'पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा।।'* (७। ४५) जब ऐसे पुण्योंका समूह एकत्र होता है, तब सन्त मिलते हैं। यथा—*'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।'* (७। ४५) इसका चरितार्थ (पात्रोंद्वारा अनुकूल आचरण) भी श्रीरामचरितमानसमें है। यथा—*'बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगल काजा॥'* (२। ७) *'मुनि महिदेव साधु सनमाने।'* (२। ३१९) (ग) विप्रवन्दना कारणरूप है, साधुवन्दना कार्यरूप है। कारणके अनन्तर कार्य होता है। विप्रवन्दनाके पीछे साधुवन्दनाका यही कारण है। मङ्गलाचरणके द्वारा उपदेश दिया है। (पं० रा० कु०) [(घ) मानसमें श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीसे जो भक्तिके साधन कहे हैं, उनमें प्रथम विप्रपद-प्रीति साधन कहा है और सन्तपदप्रेम पीछे। इसी भावसे यहाँ सन्तके पहले विप्रवन्दना की। यथा, *'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती।''''''संतचरनपंकज अति प्रेमा।'* (३। १६) अथवा (ङ) बहुधा

ब्राह्मणेतर ही भगवद्भक्त होते हैं। उनकी ब्राह्मणोंमें कभी अनादरबुद्धि न होने पावे, इस विचारसे सन्तके पहले ब्राह्मणको रखा।]

नोट—१ सुजनसमाज सकल गुणोंकी खानि है, यह कहकर आगे उनके गुण कहते हैं। २ *'गुनखानी'।* यथा—**'जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति। चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्॥'** (भर्तृहरिनीतिशतक २३) अर्थात् सज्जनोंकी सङ्गति बुद्धिकी जडता (अज्ञान) को नाश करती है, वाणीको सत्यसे सींचती है, मानकी उन्नति करती है, पाप नष्ट करती है, चित्तको प्रसन्न करती है और दिशाओंमें कीर्तिको फैलाती है। कहिये तो वह मनुष्योंके लिये क्या नहीं करती?

साधु चरित[1] सुभचरित[2] कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥ ५॥

शब्दार्थ—**चरित**=आचरण; रहन-सहन; जीवन। सुभ (शुभ)=सुन्दर; उत्तम; कल्याणकारी। ☞ यहाँ तथा आगेके सब विशेषण श्लिष्ट हैं अर्थात् दोहरे अर्थवाले हैं। कपास तथा साधुचरित दोनोंमें इनके श्लेष अर्थ लगते हैं। ये अर्थ टिप्पणियोंमें तथा आगे दोनोंके मिलानमें दिये गये हैं।

अर्थ—साधुका चरित कपासके चरितसे (वा, चरितके समान) शुभ है, जिसका फल नीरस, उज्ज्वल और गुणमय है॥ ५॥

नोट— १ *'सुभ'* इति। मङ्गलमय, कल्याण, परोपकारपरायणताके भावसे 'शुभ' कहा। समानता यह है कि दोनों परोपकार करते हैं। सन्तोंके सब कार्य परोपकारार्थ ही हुआ करते हैं। यथा, ***'पर उपकार बचन मन काया॥ संत सहज सुभाउ खगराया।'*** (७। १२१) **'परोपकाराय सतां विभूतयः।'** पुनः, 'शुभ' का अभिप्राय यह है कि वे अशुभ कर्म कभी नहीं करते।

नोट— २ पं० रामकुमारजी—कपासके फलका रूपक करते हैं। कपासके फलमें तीन भाग होते हैं; इसीसे यहाँ तीन विशेषण दिये। *'फल'* भी श्लिष्ट है। साधुपक्षमें, **'फल'**=कर्मका परिणाम। कपासपक्षमें, **'फल'**=ओषधिका विकार। **निरस** नीरस=रसरहित। (कपासपक्षमें) अर्थात् बेलज्जत है, किसी रसका धर्म उसमें नहीं है। **रूखा।**=विषयरसरहित होनेसे रूखे। (साधुपक्षमें) **बिसद**=उज्ज्वल। (कपासपक्षमें)=निर्मल, मद-मोह-कामादिरहित होनेसे उज्ज्वल। (साधुपक्षमें) **गुनमय**=सूत्र वा तन्तुयुक्त (कपासपक्षमें) माइक्रोस्कोपसे देखें तो कपासमें सूतके रेशे वा डोरे देख पड़ते हैं। सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि कारणमें कार्य सूक्ष्मरूपसे रहता है। साधुपक्षमें, **गुनमय**=सद्गुणयुक्त।

नोट— ३ बैजनाथजी लिखते हैं कि कपास खेतमें बोया जाता है, सींचा जाय, निराया जाय इत्यादि। साधुप्रसङ्गमें खेत, बीज, सींचना, निराना, वृक्ष, फल आदि क्या हैं?

उत्तर—सुमति भूमि, सत्सङ्ग बीज, उपदेश अङ्कुर, यम-नियमादि सींचना-निराना, निवृत्ति वृक्ष और विवेक फल हैं। विवेक फलके अन्तर्गत शान्ति, सन्तोषादि अनेक गुण हैं। (बै०)

नोट— ४ कपास उज्ज्वल है, पर और रङ्ग उसपर चढ़ जाते हैं। साधुचरित सदा स्वच्छ रहता है जिसपर ***'चढ़ै न दूजो रंग,*** यह विशेषता है। जहाँ भी साधु रहेंगे, वहीं ***'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं'।***

१, २—चरित—१७२१, १७६२ छ०, भा० दा०, पं० राम गु० द्वि०। १६६१ में इस पन्नेका पाठ पं० शिवलाल पाठकजीकी पोथीसे लिया गया है, पर अभिप्रायदीपक और मा० मा० में 'साधु सरिस सुभ चरित कपासू' पाठ है जिसका अर्थ श्रीजानकीशरणजीने यह दिया है। 'कपासके शुभचरित्र-सदृश (सच्चरित्र) साधु हैं।' यही पाठ रामायणपरिचर्य्यामें छपा हुआ है। पंजाबीजी, बैजनाथजी, बाबा जानकीदासजी आदिने 'साधुचरित सुभ सरिस कपासू' पाठ दिया है। इस पाठके अनुसार 'साधुचरित' उपमेय, 'कपास' उपमान, 'सरिस' वाचक और 'शुभ' साधारण धर्म होनेसे 'पूर्णोपमा अलङ्कार' होगा। अर्थ यह है, 'साधुका चरित कपासके समान शुभ है।' [वा, सुन्दर कपासके समान है। (नंगे परमहंसजी)]......' 'साधुचरित सुभचरित कपासू' पाठमें 'साधुचरित' उपमेय है और 'कपासचरित' उपमान है। 'चरितकपासू' पाठ से तद्रूपकालङ्कारद्वारा साधुचरितमें विशेषता भी दिखायी जा सकती है। यह पाठ १६६१ में भी है जहाँसे भी लिया गया हो।

नोट— ५ मिलान कीजिये, '**नीरसान्यपि रोचन्ते कार्पासस्य फलानि मे। येषां गुणमयं जन्म परेषां गुह्य गुप्तये॥**' (सु० र० भा० ५। १८४) अर्थात् कपासके फल नीरस होनेपर भी हमें बहुत अच्छे लगते हैं, क्योंकि उनका गुणमय-जन्म लोगोंके गुह्यगोपनके लिये ही है।

जो सहि[1] दुख पर-छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जसु पावा॥ ६॥

शब्दार्थ—दुरावा=छिपाया, ढाँक दिया। बंदनीय=वन्दना, प्रशंसा वा आदर करनेयोग्य। जसु (यश)=कीर्ति; नाम।

अर्थ—जो (स्वयं) दुःख सहकर पराये दोषोंको ढाँकते हैं, जिससे जगत्में वन्दनीय और यश (वा, वन्दनीय यश वा वन्दनीय होनेके यश) को प्राप्त हैं॥ ६॥[2]

अर्धाली ५, ६ का रूपक निम्न मिलानसे स्पष्ट हो जायगा।

कपासचरित्र और साधुचरित्रका मिलान

कपास		साधु
नीरस है अर्थात् इसमें रस नहीं होता।	१	काम-क्रोधादि विकारोंसे रहित और इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें न लिप्त होना 'नीरसता' है। यथा, '*बिगत काम*……', '*बिषय अलंपट*' (७। ३८), '*तौ नवरस षटरस रस अनरस है जाते सब सीठे।*' (विनय० १६९) साधुचरितका फल नीरस है। अर्थात् उनमें विषयासक्ति नहीं है। अनासक्तिभावसे किये होनेसे वे कर्मफलका भोग नहीं करते।
विशद अर्थात् उज्ज्वल है,	२	साधुके कर्म निष्काम, निःस्वार्थ और भगवत्-सम्बन्धी होते हैं, उनका हृदय अज्ञानान्धकार तथा पापरहित निर्मल होता है और चरित्र उज्ज्वल होते हैं। यही 'विशदता' (स्वच्छता) है। यथा, '*सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥……बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥*' (४। १६)
गुण (सूत्र, तन्तु) मय होता है।	३	साधु भी गुण (सद्गुण) मय होते हैं। यथा, '*सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ।*' (३। ४५) से लेकर '*मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते।*' (४६) तक।
कपासके ढेढ़में तीन फाल (भाग, फाँक), छिलका, बिनौला, और रूई होती हैं।	४	तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) और तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) तीनों फाल और छिलके हैं। तीनों गुण और तीनों अवस्थाएँ आत्मासे स्फुरित होती रहती हैं [ये अवस्थाएँ मनकी वृत्तिको लेकर हैं और मन स्वभावतः जड है। अतः जब वह आत्मद्वारा चैतन्य हो जाता है तभी अवस्थाओं और वृत्तियोंका अनुभव होता है] सात्त्विक, राजस और तामस जो भिन्न-भिन्न प्रकारके अभिमान हैं और ममत्व हैं ये ही बिनौले हैं। जब ये अनेक प्रकारके अहं, मम निकल गये तब शुद्ध तुरीयावस्थारूपी रूई रह गयी।

१ दुःख सहि—रा. प.।

२ अर्थान्तर—'जिससे जगत्के लोग वन्दना योग्य हो जाते हैं और सब सराहते हैं। जगत्में उनकी शोभा होती है।' (पं०)।

कपास	साधु
सहि दुख'—कपास ओटी जाय, रूई धुनी जाय, उसका रेशा-रेशा अलग किया जाय, फिर काती जाय, सूत बटा जाय, पीटा जाय, बुना जाय, वस्त्ररूप होनेपर सुईसे छेदा जाय। काटा जाय, फाड़ा जाय। चीथड़ा होने-पर जलाया जाय, भस्म होनेपर बरतनोंपर रगड़ा जाय, सड़ाकर पाँस बनाया जाय। इत्यादि दुःख सहती है।	५ साधुका जन्म गृहस्थीमें हुआ। पहले तो उसे कुटुम्ब एवं घरका ममत्व त्याग करनेमें कष्ट, फिर गुरुकी शरण जानेपर वहाँ खूब कसे जानेका कष्ट (जैसा पीपाजी और टोड़ेके राजाकी कथा भक्तमाल-टीका क० २८३-५, २९६ से स्पष्ट है)। ज्ञानमार्गपर चले तो ***'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥'*** ***'करत कष्ट बहु पावइ कोऊ।'*** (७। ४५) भक्तिमें भी कठिनाइयाँ हैं, ***'रघुपति भगति करत कठिनाई। कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।'*** (विनय १६७) वैराग्य और त्याग करके इन्द्रिय मन आदिके साधनोंमें कष्ट, तीर्थाटनमें वर्षा, शीत-घामका कष्ट, भिक्षामें दूसरोंके कटु वचनोंका कष्ट, परहितमें कष्ट इत्यादि दुःख सन्त सहते हैं। यथा—***'खल के बचन संत सह जैसे।'*** (४। १४) ***'भूरजतरु सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥'*** (७। १२१) ***'संत सहहिं दुख पर हित लागी।'*** (७। १२१) (दधीचिजी, शिबिजी, श्रीरंतिदेवजी आदिकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं।) देखिये उन्होंने परहितके लिये कितना कष्ट उठाया।

१ कपासको ओटकर रूई लेना,	साधुपक्षमें क्रमसे १ 'असार छोड़ना, सार ग्रहण करना, संसारसे वैराग्य',
२ धुनकना,	२ इन्द्रियोंका दमन,
३ कातना,	३ शम अर्थात् वासनाका त्याग,
४ बैनना,	४ उपराम (साधनसहित सब कर्मोंका त्याग, विषयोंसे भागना, स्त्री देख जीमें ग्लानि होना· उपरामके लक्षण हैं)
५ बीनना	५ समाधान (मनको एकाग्र कर ब्रह्ममें लगाना),
६ वस्त्र धोना और	६ मुमुक्षुता,
७ शुद्ध स्वच्छ वस्त्र	७ शुद्ध अमल ज्ञान हैं। (वै०)
'परछिद्र दुरावा'— (क) पर (शत्रु) रूपी सुईके किये हुए छेदको अपना धागारूप तन देकर ढकता है। (ख) छिद्र=गोपनीय इन्द्रियाँ; लज्जाकी जगह। वस्त्र देकर लज्जाको ढकती है।	६ (क) खलोंके अपकार सहकर भी सन्त उनके साथ उपकार ही करते हैं। यथा—***'काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥'*** (७। ३७) (ख) परछिद्र=दूसरोंके दोष। दूसरेमें जो अवगुण हैं वे ही 'छिद्र' हैं उनको ढाँक देते हैं, जिनसे वे फिर देख न पड़ें। ज्ञान वा उत्तम शिक्षारूपी वस्त्र देकर अवगुणको ढक देते हैं। यथा, ***'गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा।'*** (४। ७) वा, पर=विराट। परछिद्र=विराटकी। अधगो=नरक। यथा—*'उदर उदधि अधगो जातना।'* (लं०। १५) अर्थात् दूसरोंको नरकसे बचाते हैं। वा, (ग) इन्द्रियोंका विषयासक्त होना ही 'छिद्र' है। यथा—***'इंद्रीद्वार झरोखा नाना।''''आवत देखहिं बिषय बयारी।'*** (७। ११८) जो विषयासक्त हैं उनको ज्ञान और भक्तिरूपी वस्त्र पहना देते हैं। विषयरूप लज्जा, गुप्त बातों वा पापोंको ढाँक देते हैं यथा—**'पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यातिगूहति गुणान् प्रकटीकरोति।……'** (भर्तृहरि-नीतिशतक ७३)।

नोट—१ (क) *'सहि दुख·····'* अर्थात् दोनों (कपास और साधु) अपने ऊपर दु:ख सहकर भी परोपकार करते हैं। कपास वस्त्र और अपने सूतसे परछिद्र ढकता है और सन्त अपना तन, धन, ज्ञान, भक्ति आदि वस्त्र देकर दूसरोंके अवगुणोंको ढकते हैं। अर्थात् सन्त दीन-हीन-मलिनबुद्धिपुरुषोंका सदा कल्याण करते रहते हैं; दु:ख सहकर भी उनको सुधारते हैं। यथा—**'महद् विचरणं नृणां गृहीणां दीनचेतसाम्। नि:श्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥'** अर्थात् महान् पुरुषोंका परिभ्रमण दीन-हीन-गृहस्थ पुरुषोंके कल्याणके लिये होता है। अत: आपका दर्शन व्यर्थ नहीं हो सकता। पुनश्च यथा— **'य: स्नातोऽसितधियो साधुसङ्गतिगङ्गया। किं तस्य दानै: किं तीर्थै: किं तपोभि: किमध्वरै:॥'** (योगवासिष्ठ) अर्थात् जिस अस्वच्छ (मलिन) बुद्धिवाले पुरुषने भी साधुसङ्गरूपी गङ्गामें स्नान कर लिया, उसे दान, तीर्थ, तप और यज्ञादि करनेका क्या प्रयोजन? अर्थात् सन्तसङ्गसे ये सब प्राप्त हो जाते हैं। (ख) *'बंदनीय जेहि जग·····'* अर्थात् बिना अपने किसी स्वार्थके स्वयं दु:ख सहकर भी परोपकार करते हैं इसीसे दोनोंकी प्रशंसा जगत्में हो रही है। यही वन्दनीय होना है। यथा—**'श्लाघ्यं कार्पासफलं यस्य गुणैरन्धवन्ति पिहितानि।'** (शार्ङ्गधर। सु० र० भा० ५। १८५) अर्थात् कपासका फल इसलिये प्रशंसनीय है कि वह अपने गुणों (तन्तुओं, तागों) से दूसरोंके छिद्र ढका करता है। कपास कैसा-कैसा कष्ट उठाता है यह भी किसी कविने यों लिखा है। यथा—**'निष्पेषोऽस्थि च यस्य दु:सहतर: प्राप्तस्तुलारोहणम्। ग्राम्यस्त्रीनखचुम्बनव्यतिकरस्तन्त्रीप्रहारव्यथा॥ मातङ्गोक्षितमण्डवारिकणिकां पानं च कूर्चाहति:। कार्पासेन परार्थसाधनविधौ किं किं न चाङ्गीकृतम्॥'** अर्थात् कपास अपनी अस्थिसमूहको कुटवाता है, तुलापर चढ़ाया जाता है, ग्रामीण स्त्रियोंद्वारा नखोंसे उधेड़ा जाता है, फिर धुनियेद्वारा धुनका जाता है, फिर नीच जुलाहोंके हाथका माँड उसे पीना पड़ता है और कूँचियों-द्वारा ताड़ित होता है। अब स्वयं देख लीजिये कि परोपकारके लिये उसने कौन-कौन कष्ट नहीं सहे। (ग) *'बन्दनीय'* यथा— *'काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥' 'ताते सुर सीसन्ह चढ़त जगबल्लभ श्रीखंड।'* (७। ३७) *'परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* (१। ८४) (घ) साधुचरितमें विशेषता यह है कि कपास तो इन्द्रियोंकी लज्जा ढाँककर लोकमें मर्यादा बढ़ाता है और साधु निज गुण देकर परछिद्र दुराकर उसकी परलोकमें मर्यादा बढ़ाते हैं। श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी लिखते हैं कि कपासने जगत्में यश पाया और सन्तसे जगत्ने यश पाया अर्थात् यद्यपि असार है, मिथ्या है तथापि 'संसार' (जिसमें बड़ा सार हो) यह नाम पड़ा।

नोट—२ साधुका जीवन और उनके कर्म परोपकारके लिये ही होते हैं। यथा—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥'* (७। १२५) **'नेहाथवामुत्र च कश्चनार्थ ऋते परानुग्रहमात्मशीलम्।'** (भा० १। १९। २३) अर्थात् आपका इहलोक-परलोकमें स्वभावत: परोपकारके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। अत: यह शङ्का होती है कि 'तब उनका उद्धार कैसे होता है?' इसका समाधान यह है कि सन्तोंके सब काम नि:स्वार्थ निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर एवं भगवदर्पण होते हैं; भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌के ही लिये तथा समस्त जीवोंमें प्रभुको ही अनन्यभावसे देखते हुए वे सब जीवोंके हितसाधनमें लगे रहते हैं। *'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'।* प्रभुके बताये हुए इस अनन्यभावसे जन-जनार्दनकी सेवा करते हैं। अत: वे तो सदा प्रभुको प्राप्त ही हैं और शरीरान्तपर भी भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। यथा—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:॥'** (गीता १२। ४) अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवोंके हितमें रत हैं वे मुझे प्राप्त होते हैं। पुनश्च, **'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा:। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥'** (गीता १२। ६-७) अर्थात् जो सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके अनन्य ध्यानयोगसे मेरे परायण होकर मेरी उपासना करते हैं ऐसे मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंको मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता

हूँ। पुनः, यथा—'**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥**' (११। ५५) अर्थात् जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ कर्तव्य-कर्मोंको करता है, मुझमें परायण है, मेरा भक्त है और आसक्तिरहित है तथा किसीसे उसको वैर नहीं है, वह मुझको प्राप्त होता है।

मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥७॥

शब्दार्थ—**मुद**=मानसी आनन्द। (१। ३) 'मंगल मोद' देखिये। पुनः, **मंगल**=प्रसिद्ध उत्सव जैसे भगवान्के जन्म, विवाह आदि, कीर्तन आदि एवं इनसे जो सुख होता है। (वै०) **जंगम**=चलता-फिरता।=चलनेवाला। **मय**=प्रचुर। **तीरथराजू** (तीर्थराज)=प्रयाग।

अर्थ—सन्त-समाज मुदमङ्गलमय है, जो जगत्में चलता-फिरता प्रयागराज है॥ ७॥

नोट—१ (क) **'*मुद मंगल मय*'** है अर्थात् आनन्द-मङ्गलसे परिपूर्ण है। भक्ति और ज्ञान-सम्बन्धी आनन्दसे परिपूर्ण होनेसे 'मुदमय' और भक्तिसम्बन्धी बाह्योत्सवादि प्रचुररूपमें करनेसे **'*मंगल मय*'** कहा।

(ख) पूर्व 'साधु' को कहा, अब सन्त-समाजको कहते हैं। 'साधु' वे हैं जो साधन कर रहे हैं और सन्त वे हैं जिनका साधन पूर्ण हो गया, जो पहुँचे हुए हैं, भगवान्को प्राप्त हैं। (वै०, रा० प०) विशेष (२। ४) में देखिये। **'*जंगम तीरथराजू*'** का भाव कि प्रयाग एक ही स्थानपर स्थित वा अचल है, जब वहाँ कोई जाय तब शुद्ध हो और सन्त चल तीर्थराज हैं, जो जाकर सबका कल्याण करते हैं। **'*जंगम*'** विशेषण देकर सन्त-समाजरूपी प्रयागमें विशेषता दिखायी है।

(ग) सन्त तीर्थस्वरूप हैं। यथा—'**भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।**' (भा० १। १३। १०) श्रीयुधिष्ठिरजी श्रीविदुरजीसे कह रहे हैं कि आप-जैसे महात्मा स्वयं तीर्थस्वरूप हैं। यदि कहो कि वे स्वयं तीर्थस्वरूप हैं तो फिर वे तीर्थोंमें क्यों जाते हैं। तो उत्तर यह है कि पापियोंके संयोगसे तीर्थोंमें जो मलिनता आ जाती है—वह सन्तोंके पदस्पर्शसे दूर होती है। यथा—'**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥**' (भा० १। १३। १०) अर्थात् अपने अन्तःकरणमें स्थित हृषीकेशद्वारा तीर्थको भी पवित्र करते हैं। पुनश्च, यथा—'**प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः॥**' (भा० १। १९। ८ परीक्षित्-वाक्य) अर्थात् सन्तलोग प्रायः तीर्थयात्राके बहाने उन तीर्थस्थानोंको स्वयं पवित्र किया करते हैं।

यहाँसे सन्तसमाज और प्रयागका साङ्गरूपक कहते हैं।

रामभक्ति जहं सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥ ८॥
बिधि निषेध मय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदनि बरनी॥ ९॥
हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥ १०॥
बटु बिस्वास अचल निज धर्मा। तीरथराज[१] समाज सुकर्मा॥ ११॥

शब्दार्थ—**सुरसरि**=देवनदी=गङ्गा। **धारा**=बहाव, प्रवाह। **सरसइ**=सरस्वती। **ब्रह्म बिचार प्रचारा**=ब्रह्मविद्याका प्रचार=ब्रह्मनिरूपण। (गौड़जी) वा, ब्रह्म जो सदा स्वतन्त्र, एकरस, अमल, प्रकाशमय, अन्तरात्मा, अन्तर्यामी-रूपसे स्थित है, उसका विचार अर्थात् ज्ञान 'ब्रह्म विचार' है। उस ब्रह्मज्ञानका प्रचार 'ब्रह्मविद्या' है। (वै०) **प्रचारा** (प्रचार)=निरंतर व्यवहार। (श० सा०)=कथन; यथा—'*लागे करन ब्रह्म उपदेसा।*' (७। १११)

---

१ साज—१७२१, १७६२। साज-समाज=सामग्री=ठाट-बाट। तीर्थराजका साज-समाज उसके मन्त्री, कोश, सेना-सिपाही आदि हैं। यथा—'सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी।'''''सेन सकल तीरथ बर बीरा। संगम सिंहासनु सुठि सोहा। ''''''(२। १०५) सन्त-समाजमें शुभ कर्म हैं। अथवा, शङ्ख, घण्टा, घड़ी, झण्डी आदि साज हैं। (रा० प्र०) अथवा, 'तीरथराज सुकर्मा समाज' है, ऐसा अर्थ करें। साज=ठाट-बाट, सेना आदि। समाज=समुदाय, समूह।

(पं० रामकुमारजी) श्रीजानकीशरणजी इसका अर्थ 'प्रचार करनेवाली बुद्धि' लिखते हैं। **बिधि**=वेदोंमें जिन कर्मोंके करनेकी आज्ञा है=ग्रहणयोग्य कर्म। पूर्वमीमांसामें 'वियोग' का नाम ***'बिधि'*** है। अर्थात् जो वाक्य किसी इष्ट फलकी प्राप्तिका उपाय बताकर उसे करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करे, वही ***'बिधि'*** है। यह दो प्रकारका है, प्रधान और अङ्ग। **निषेध**=वह कर्म जिनके त्यागकी आज्ञा है, त्यागयोग्य कर्म। **कलिमल हरनी**=कलिके पापोंका नाश करनेवाली। **करम कथा**=कर्मकाण्ड। **रविनंदनि**=सूर्यकी पुत्री=यमुना। यह नदी हिमालयके यमुनोत्तरी स्थानसे निकलकर प्रयागमें गङ्गाजीसे मिली है। पुराणानुसार यह यमकी बहिन यमी है जो सूर्यके वीर्यसे संज्ञाके गर्भसे उत्पन्न हुई थी और जो संज्ञाको सूर्यद्वारा मिले हुए शापके कारण पीछेसे नदीरूप हो गयी थी। यमने कार्तिक शुक्ला द्वितीयाको अपनी बहिनके यहाँ भोजन किया और उसके प्रसादमें यह वरदान दिया कि जो इस दिन तुम्हारे जलमें स्नान करेगा वह यमदण्डसे मुक्त हो जायगा। इसीको भैयादूज कहते हैं। उस दिन बहिनके यहाँ भोजन करना और उसको कुछ देना मङ्गलकारक और आयुवर्धक माना जाता है। **हरि हर**=भगवान् और शङ्करजी।=भगवत् और भागवत। शङ्करजी परम भागवत हैं। यथा, **'वैष्णवानां यथा शम्भुः।'** (श्रीमद्भागवत १२। १३। १६) **बिराजति**=सुशोभित है; विशेष शोभित है। **बेनी** (वेणी)=त्रिवेणी=गङ्गा, यमुना और सरस्वतीका सङ्गम। **बटु**=बरगदका वृक्ष। अक्षयवट जो प्रयागमें है; इसका नाश प्रलयमें भी नहीं होता ऐसा पुराणोंमें कहा गया है। प्रयागमें किलेमें अब एक ठूँठ-सा है। **निज धर्मा**=अपना (साधु) धर्म=वेदसम्मत धर्म=अपने गुरुका अपनेको उपदेश किया हुआ धर्म। अर्थात् गुरुके उपदेशसे किसी एक निष्ठाको ग्रहणकर जो कर्म करना चाहिये वह 'निज धर्म' है। यथा—***'ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहे श्रुति सज्जन॥'*** (७। ४९) ***'जप तप नियम जोग निज धर्मा।'*** (७। ४९) **सुकर्मा**=सुन्दर (शुभ) कर्म। यथा—***'श्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा।'*** (७। ४९) **समाज**=परिकर, परिषद्।

अर्थ—जहाँ (उस सन्त-समाजरूपी प्रयागमें) श्रीरामभक्ति गङ्गाजीकी धारा है। ब्रह्मविचारका कथन सरस्वतीजी हैं॥ ८॥ विधिनिषेधसे पूर्ण कलिके पापोंको हरनेवाली कर्मकथा श्रीयमुनाजी हैं॥ ९॥ भगवान् और शङ्करजीकी कथा त्रिवेणीरूपसे सुशोभित है* (जो) सुनते ही सम्पूर्ण आनन्द और मङ्गलोंको देनेवाली है॥ १०॥ 'निज धर्म' में अटल विश्वास अक्षयवट है। और शुभकर्म ही तीर्थराज प्रयागका समाज है॥ ११॥

नोट—१ गङ्गा और रामभक्तिसे ही साङ्गरूपकका आरम्भकर दोनोंकी श्रेष्ठता दिखायी। प्रयागमें गङ्गाजी प्रधान हैं और सन्त-समाजमें श्रीरामभक्ति ही प्रधान है यह दरसानेके लिये इनको आदिमें रखा। प्रयागमें गङ्गा, सरस्वती, यमुना, त्रिवेणी, अक्षयवट और परिकर हैं, सन्त-समाजमें ये क्या हैं, यह यहाँ बताते हैं। रूपकके भाव नीचे मिलानसे स्पष्ट हो जायँगे।

टिप्पणी—१ ***'रामभक्ति जहँ सुरसरिधारा'*** इति। (क) ***'जहँ'*** का भाव यह है कि अन्यत्र रामभक्ति नहीं है, सन्त-समाजहीमें है। (ख) ***'धारा'*** कहकर जनाया कि यहाँ श्रीरामभक्तिका प्रवाह है, भक्तिका ही विशेषरूपसे कथन होता है। पुनः, ***'धारा'*** शब्द देकर यह भी सूचित किया कि जैसे धारा गङ्गाजीकी ही कहलाती है चाहे जितनी नदियाँ और नद उसमें मिलें; वैसे ही कर्म और ज्ञान उपासनामें मिलनेसे उपासना (भक्ति) ही कहलाते हैं। यथा—***'जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥'*** (१। ४०) ***'सुरसरि धार नाम मंदाकिनि।'*** (२। १३२) [गङ्गा, यमुना, सरस्वती तीनोंमें गङ्गाकी धारा

---

* अर्थान्तर—२ 'रामभक्ति, कर्मकथा और ज्ञान' रूपी त्रिवेणी हरिहरकथासे शोभित होती है'। (पं० रामकुमारजी) ३ 'हरिहरकथारूपी भूमिमें गङ्गा, यमुना और सरस्वतीरूपी भक्ति आदि त्रिवेणीका सङ्गम हुआ।' अर्थात् जो एक साथ इन तीनोंमें स्नान करना चाहता है वह सन्त-समाजमें हरिहरकथाको श्रवण करे क्योंकि यहाँ हरिहरकथाके बहाने भक्ति आदि तीनोंका वर्णन होता है।' (मा० म०, मा० त० वि०) ये अर्थ लोगोंने इस शंकासे किये हैं कि 'हरि' और 'हर' तो दो ही हैं, त्रिवेणीमें तो तीन चाहिये? ४ जहाँ हरिहरकथारूप विराजत (प्रत्यक्ष) वेणी है। (नंगे परमहंसजी)

ही प्रबल है, वैसे ही सन्त-समाजमें श्रीरामभक्ति ही प्रबल है। सङ्गम होनेपर फिर 'गङ्गा' नाम ही हो गया। वैसे ही कर्मकथा और ब्रह्मविचारका प्रचार श्रीरामभक्तिके प्रवाहमें मिलनेपर अपना नाम खो बैठे, श्रीरामभक्तिका अङ्ग वा रूप हो गये।]

तीर्थराज प्रयाग और सन्त-समाजका मिलान

१ प्रयागमें गङ्गाजी हैं, सन्त-समाजमें श्रीरामभक्ति है। दोनोंमें समानता यह है कि (१) दोनों सर्वतीर्थमयी हैं। यथा—सर्वतीर्थमयी गङ्गा' *'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥'* *'नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥'* *'भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी॥'* (७। १२६) *'तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥'* (७। ४९) (२) दोनोंकी उत्पत्ति भगवान्‌के चरणोंसे हुई। गङ्गाजी भगवान्‌के दक्षिण चरणसे निकलीं। यथा—*'जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।'* (१। २११) *'मकरंदु जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि*.....'(१। ३२४) 'बिस्नु-पद-सरोजजासि', (विनय० १७) 'धर्मद्रवं ह्यपां बीजं वैकुण्ठचरणच्युतम्' (प० पु० स्वर्ग० ३१। ७५) और भक्ति भी भगवच्चरणके ध्यानसे उपजती है। इस तरह दोनोंका उत्पत्तिस्थान एक ही है। (३) दोनों ऊँच-नीच, मध्यम सभीको पावन करते हैं और अपना स्वरूप बना लेते हैं। यथा—*'कर्मनासजल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥'* *'श्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥'* (२। १९४) *'पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।'* (७। १३०)....*'बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥'* (२। २१७) अर्थात् भक्तमें भी वही गुण आ जाता है जो भक्तिमें है। (४) दोनों एक स्थलमें प्राप्त हैं, दोनोंने समान आदर पाया है। गङ्गाजी शिवजीके सिरपर विराजती हैं और भक्ति उनके हृदयमें विराजती है। यथा—'देवापगा मस्तके' (अ० मं० श्लो० १) *'संकर-हृदय-भगति-भूतल'* (गीतावली ७। १५) (५) गङ्गा उज्ज्वल। यथा—*'सोभित ससि धवलधार'* (विनय० १७) *'भ्राज विबुधापगा आप पावन परम, मौलि-मालेव शोभा विचित्रं।'* (विनय० ११) भक्तिका भी सत्त्वगुणमय शुद्ध स्वरूप है। यथा—*'अबिरलभगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।'* (७। ८४) (६) प्रयागमें गङ्गाजीका प्रवाह अधिक प्रबल है वैसे ही सन्त-समाजमें श्रीरामभक्तिका प्रवाह अधिक है। (७) गङ्गाजल बिगड़ता नहीं वैसे ही भक्ति भी क्रिया नष्ट होनेपर भी निर्मल रहती है। (वि० टी०)

२ प्रयागमें सरस्वती, वैसे ही सन्त-समाजमें ब्रह्मविचारका प्रचार। दोनोंमें समानता यह है कि (क) दोनोंका उत्पत्तिस्थान एक ही है। सरस्वतीजी ब्रह्माकी कन्या हैं जो देवताओंकी रक्षाके लिये एवं गङ्गाके शापसे नदीरूप हुईं। (मं० श्लो० १ देखिये) ब्रह्मविद्या भी प्रथम ब्रह्माजीने अपने बड़े पुत्र अथर्वासे कही। यथा—'ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥' (मुण्डकोपनिषद् १। १) (ख) गङ्गा-यमुनाके मध्यमें सरस्वती गुप्त रहती हैं वैसे ही कर्मकाण्ड और भक्तिके बीचमें ब्रह्मविचारका कथन गुप्त है। यथा—'गङ्गा च यमुना चैव मध्ये गुप्ता सरस्वती। तदग्रभागो निःसरति सा वेणी यत्र शोभते॥' (प्रयागमाहात्म्ये) तथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' श्रुतिः। (तैत्ति० २। ४; २। ९। ब्रह्मोप०, पं० रामकुमारजी) सरस्वतीका रङ्ग श्वेत है और ज्ञान भी प्रकाशरूप है (यह समता पंजाबीजीने दी है। पर सरस्वतीका वर्ण लाल कहा गया है; यथा—*'स्यामबरन पद-पीठ, अरुन तल, लसति बिसद नखस्त्रेनी। जनु रबि-सुता सारदा-सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी॥'* (गी० ७। १५)

नोट—२ *'सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा।'* इति। (क) ब्रह्मविचार-प्रचारको सरस्वती कहा क्योंकि जैसे प्रयागमें सरस्वती गुप्त हैं वैसे ही सन्त-समाजमें ब्रह्मविद्याका प्रचार गुप्त है। गुप्त कहनेका भाव यह है कि सन्त-समाजमें 'ब्रह्मविद्याका प्रचार है, परन्तु सन्त-समाजके बाहर नहीं है, भीतर ही गुप्तरूपसे उसका प्रचार है। कारण कि सन्त-समाज ही उसका अधिकारी है, उससे बाहरका इसका अधिकारी नहीं है। श्रीरामभक्तिका अधिकारी सारा विश्व है। जैसे गङ्गाजलके सहारे यमुना और सरस्वतीके जलका पान सबको सुलभ है वैसे ही भक्तिके सहारे ब्रह्मविद्या भी सबको सुलभ है।' (प्रोफे० गौड़जी) (ख) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि गङ्गा और रामभक्तिसे अनेकोंका उपकार होता है, यमुना और कर्मकाण्डसे थोड़े लोगोंका उपकार होता है पर ज्ञानरूपी सरस्वतीसे तो घुनाक्षरन्यायेन ही किसीकी भलाई होती है। ये भाव प्रकट करनेके लिये रामभक्तिको सुरसरिधारा और ब्रह्मविचारको सरस्वती कहा। (रा० प्र०) (ग) वे० भू० जीका मत है कि *'प्रचारा'* शब्द देकर सन्त-समाज, प्रयागमें यह विशेषता दिखाते हैं कि यहाँ प्रयागमें तो सरस्वती प्रकट नहीं हैं पर यहाँ सन्त-समाजमें 'ब्रह्मविचार' का प्रचार है, ब्रह्मविचाररूपी सरस्वती प्रकट है, अर्थात् यहाँ भगवद्गुणकथनोपकथनमें ब्रह्मनिरूपण सर्वप्रथम होता है। यथा, *'ब्रह्मनिरूपन धर्मबिधि बरनहिं……।'* (१। ४४)।

नोट—३ प्रयागमें यमुनाजी हैं, सन्त-समाजमें कर्मकथा है। नदी प्रवाहरूपा है और कथा भी प्रवाहरूपा है। इसलिये कथाको नदीका रूपक कहा। दोनोंमें समानता यह है कि (क) दोनोंका वर्ण श्याम है। यमुना श्याम हैं। यथा—*'सबिधि सितासित नीर नहाने।'……'देखत स्यामल धवल हलोरे।'* (२। २०४) कर्ममें स्थल, काल, वस्तु, देह आदि दस या अधिक प्रकारकी शुद्धियोंकी आवश्यकता होती है। अशुद्धियाँ ही कालापन है अथवा, कर्मोंमें जो कुछ-न-कुछ अहङ्कार रहता ही है वही कालापन है। (ख) यमुनाजी सूर्यकी कन्या हैं। यथा—'कालिन्दी सूर्यतनया (अमरकोश १। १०। ३२) *'चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई॥'* (२। ११२) और कर्मोंका अधिकार अधिकतर सूर्योदयसे ही होता है। यथा—**'यस्योदयेनेह जगत्प्रबुध्यते प्रवर्त्तते च खिलकर्मसिद्धये। ब्रह्मेन्द्रनारायणरुद्रवन्दितः स नः सदा यच्छतु मङ्गलं रविः॥'** (भविष्योत्तरपुराण) (पं० रामकुमारजी) अर्थात् जिनके उदयसे जगत् जागता है और अखिल कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और जो ब्रह्मा, इन्द्र, नारायण तथा रुद्रसे वन्दित हैं, वे सूर्य सदा हमारा मङ्गल करें। दोनों कलिमल हरती हैं। यथा—*'जमुना कलिमलहरनि सुहाई।'* (६। ११९) **'दूरस्थेनापि यमुना ध्याता हन्ति मनःकृतम्। वाचिकं कीर्तिता हन्ति स्नाता कायकृतं ह्यघम्॥'** (पद्मपुराण) अर्थात् दूरसे ही यमुनाजीका ध्यान करनेसे मनके पाप, नामस्मरणसे वाचिक पाप और स्नानसे शारीरिक पाप दूर होते हैं। **'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्'** (श्रुतिः) अर्थात् नित्य और नैमित्तिक कर्मोंसे पापका क्षय करता हुआ (मुक्त हो जाता है)। गीतामें भगवान् भी कहते हैं, **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'** अर्थात् इस प्रकार जनकादि भी कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। (३। २०) (४) (विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि) कृष्णजीने बहुत-से शुभकर्म यमुनातटपर ही किये हैं जैसे अग्निभक्षण, कालीनागनाथन, गोपियोंको उपदेश आदि। इसीसे यमुनाजीसे मिलान कर्मकथासे करना अति उत्तम है।

नोट—४ प्रयागमें त्रिवेणी हैं, सन्त-समाजमें हरिहरकथाएँ हैं। दोनोंमें समानता यह है कि (१) गङ्गा, यमुना और सरस्वती जहाँ मिलती हैं उस सङ्गमको त्रिवेणी कहते हैं। इसी तरह श्रीरामभक्ति, कर्मकथा और ब्रह्मविचारका प्रचार इन तीनोंका हरिहरकथामें सङ्गम होता है। भाव यह है कि जैसे गङ्गा, यमुना, और सरस्वती इन तीनोंके सङ्गमका इन तीनोंसे पृथक् एक 'वेणी' या 'त्रिवेणी' नाम पड़ा, वैसे ही यहाँ भक्ति, कर्म और ज्ञान इन तीनोंके सङ्गमका नाम तीनोंसे पृथक् 'हरिहरकथा' नाम कविने दिया है। जैसे त्रिवेणीमें तीनोंका स्नान एक ही स्थलपर प्राप्त है, अन्यत्र नहीं; वैसे ही भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनोंका

श्रवणरूपी स्नान हरिहरकथामें ही प्राप्त है, अन्यत्र नहीं। (२) दोनों मुदमङ्गलको देनेवाली है। यथा—*एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी।*' (२। १०६) '*कल्यान काज बिवाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं।*' (१। १०३) '*मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥*' (७। १२९) श्रवणमात्रसे आनन्दमङ्गल देनेवाली होना यह विशेषता है।

नोट—५ यहाँ पंजाबीजी, करुणासिन्धुजी तथा बैजनाथजीने हरिहरकथाको वेणी कहनेमें शङ्का की है और अपने-अपने ढङ्गसे उत्तर दिये हैं। करुणासिन्धुजीने जो उत्तर लिखा है प्रायः उसीको बढ़ाकर बैजनाथजीने रखा है। 'सरस्वती और यमुनाका गङ्गामें सङ्गम होना वेणी है वैसे ही यहाँ ज्ञान और कर्मका भक्तिमें सङ्गम होना कहना चाहिये था। हरिहरकथाको वेणी कहनेसे पूर्वप्रसङ्ग कैसे आवे?' (वै०) उत्तर—(क) हरिहरकथामें जहाँ कर्म, ज्ञान, भक्ति मिलकर एक हुए हैं वह वेणी है। वह कहाँ है? याज्ञवल्क्यजीने प्रथम शिवचरित कहा। उसमें सतीके मोहवश सीतारूप धारण करनेपर सतीमें श्रीजानकीभाव ग्रहण करना '*बिधि*' है, सतीतनमें प्रीतिका त्याग '*निषेध*' है; यह विधिनिषेधमय कर्मकथा 'यमुना' हैं। '*हरि इच्छा भावी बलवाना*', '*राम कीन्ह चाहहिं सो होई*', इत्यादि विचारोंको हृदयमें धारण करनेसे शान्ति होना यह ब्रह्मविचार है। श्रीजानकीजीमें स्वामिनीभाव भक्ति है। इस तरह तीनोंका सङ्गम है। (करु०) (ख) भरद्वाज-याज्ञवल्क्यसंवाद कर्ममय है, उसके अन्तगर्त उमा-शम्भु-संवाद ज्ञानमय है और इसका श्रीरामचरितरूपी भक्ति गङ्गामें सङ्गम हुआ। सती-मोह, पार्वती-विवाह कर्मकथा है, उमाशिव-संवादमें ब्रह्मका वर्णन '*आदि अंत कोउ जासु न पावा।*'''''*बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥*' '*महिमा जासु जाइ नहि बरनी।*' (१। ११८) यह ज्ञान है.........और '*जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान॥*' (१। ११८) यह भक्तिगङ्गामें उनका सङ्गम है। इस प्रकार हरिहरकथा तीनोंका सङ्गम 'त्रिवेणी' है। (बै०) (ग) पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि '*हरि*' से सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिये। सगुणसे भक्तिरूप गङ्गा, निर्गुणसे गुप्त ब्रह्मविचार सरस्वती, '*हर*' से महादेव और उनके यमसदृश गणोंकी कथा यमुना है। इनके सङ्गमसे त्रिवेणी सोहती है; ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। ऐसी व्याख्या न करनेसे पहली चौपाई '*रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा।*'''''''''''' इत्यादिसे असङ्गति होती है। (घ) पंजाबीजी 'विराज' से 'पक्षिराज' भुशुण्डिजी, एवं '*बिराजति*' से हंसपर शोभित ब्रह्माजी ऐसा अर्थ करके शङ्काका समाधान करते हैं जो बहुत क्लिष्ट कल्पना है। पं० रामकुमारजी और पं० शिवलाल पाठकजीके अर्थ पूर्व अर्थकी पादटिप्पणीमें दिये गये हैं। (ङ) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि '*हरिहर*' कहनेका भाव यह है कि इनमें लोग कुतर्क करते हैं। यथा—'*हरिहरपद रति मति न कुतरकी।*''''''।'

नोट—६ प्रयागराजमें अक्षयवट है, सन्त-समाजमें 'निजधर्ममें अटल विश्वास'। समानता यह है कि (क) अक्षयवटका प्रलयमें भी नाश नहीं, इससे उसका नाम 'अक्षय' है, मार्कण्डेयजीने प्रलयमें इसीके पत्तेपर 'मुकुन्द' भगवान्‌के दर्शन पाये थे। और कितना ही विघ्न एवं कष्ट क्यों न हो सन्तका विश्वास अचल बना रहता है। यथा, '*आपन जानि न त्यागिहहिं मोहिं रघुबीर भरोस।*' (२। १८३) *कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग।*' (६। ३३) गीतामें भी यही उपदेश है कि अपने धर्ममें मरना भला है। यथा—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।**' (३। ३५) (ख) वट और विश्वास दोनों शङ्कररूप हैं। यथा—'*प्राकृतहूँ बट-बूट बसत पुरारि हैं।*' (क० ७। १४०) '**भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ**' (मं० श्लो० २) (ग) प्रलयमें अक्षयवटपर भगवान् रहते हैं वैसे ही विश्वासमें श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, यथा—'*सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। ता पर राम पेम सिसु सोहा॥*' '*चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु॥*' (२। २८६) '*बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु॥*' (७। ९०) पुनश्च,

यथा— '**यत्र चैकार्णवे शेते नष्टे स्थावरजङ्गमे। सर्वत्र जलसम्पूर्णे वटे बालवपुर्हरिः**॥, (पद्मपुराण प्रयागमाहात्म्य)। तथा, '**वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारणम्**॥' एवञ्च '**न चलति निजवर्णधर्मतोयः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे। न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्**।' (विष्णुपुराण। पं० रामकुमारजी) अर्थात् प्रलयकालमें स्थावर-जङ्गमके नष्ट हो जानेपर जिस वटपर बालरूप हरि सोते हैं। वर्णाश्रमपर चलनेवाला पुरुष ही भगवान्‌का आराधन कर सकता है, उनको प्रसन्न करनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जो अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, शत्रु-मित्रको एक-सा मानता है। किसीका कुछ हरण नहीं करता, न किसीको दुःख देता है और शुद्धहृदय है वही हरिभक्त है। पुनश्च यथा—'**स चाक्षयवटः ख्यातः कल्पान्तेऽपि च दृश्यते। शेते विष्णुर्यस्य पत्रे अतोऽयं अव्ययः स्मृतः**॥' (पद्मपु० उत्तरखण्ड अ० २४ श्लोक ८) अर्थात् वह प्रसिद्ध अक्षयवट कल्पान्तमें भी देख पड़ता है कि जिसके पत्तेपर भगवान् शयन करते हैं। इसीसे वह अव्यय (अक्षय) है।

प्रयागमें तीर्थराजसमाज है। यथा—'**त्रिवेणीं माधवं सोमं भरद्वाजं च वासुकिम्। वन्देऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम्**॥' (वि० टी०) इनमेंसे त्रिवेणी और अक्षयवटको कह आये। शेष परिकर यहाँ 'तीर्थराज समाज' हैं। ये प्रयागके गौण देवता हैं। सन्त-समाजमें शुभकर्मोंका यथायोग्य आचरण राजसमाज है। (रा० प्र०) अथवा समाजभरके जो स्वाभाविक शास्त्रोक्त शुभकर्म (शुद्ध भगवत्-कर्म) हैं, वे राजसमाज हैं (करु०) अथवा भगवत्पूजा माधव हैं, नामस्मरण सोमेश्वर हैं, सद्वार्ता भरद्वाज हैं, एकादशी आदि व्रत वासुकि हैं, कथाकीर्त्तन आदि शेषजी हैं। (वै०) इत्यादि 'सुकर्म' हैं, यहाँ सिद्धावस्थाके कर्मोंको समाज कहा है। (वै०)

नोट—७ यहाँ लोग यह शङ्का उठाते हैं कि वेद-शास्त्रोंमें कर्मज्ञान, उपासना क्रमसे कहे गये हैं, यहाँ ग्रन्थकारने व्यतिक्रम क्यों किया? इसका समाधान यों किया जाता है कि (१) यहाँ सन्त-समाजका रूपक प्रयागसे बाँधा गया है न कि वेदशास्त्रोंसे। प्रयागराजमें तीनों नदियोंके प्रवाहके अनुसार रूपक बाँधा गया है। वहाँ गङ्गाजी प्रधान, यहाँ 'भक्ति' प्रधान, इत्यादि। (२) सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि पहले भक्ति, फिर ज्ञान तब कर्म लिखनेका कारण यह है कि पहले कर्मकाण्डसे शरीरको शुद्ध करना चाहिये; क्योंकि कर्मकाण्डमें जो दान, धर्म, तपादि कहे हैं उनका यही काम है कि शरीरको शुद्ध करें जिससे मनुष्योंकी अव्याहत गति हो जाती है। मनुष्य कर्मकाण्डद्वारा इस लोकमें सुख भोगकर स्वर्ग पाता है पर जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब वह पुनः मर्त्यलोकमें गिराया जाता है। जन्ममरणप्रवाह नहीं छूटता। अतएव कर्मकाण्डसे बढ़कर भक्ति है। रहा ज्ञान, उसकी दशा यह है कि बिना पदार्थज्ञानके मुक्ति नहीं। इस ग्रन्थमें तो परमार्थभूत श्रीमद्रामचन्द्रजी निरूपण किये गये हैं, उनकी प्राप्ति बिना भक्तिके नहीं होती, क्योंकि वे भक्तवत्सल हैं और ज्ञानका फल यही है कि उनके चरणोंमें भक्ति हो। यथा—'***धर्म ते बिरति जोग तें ग्याना।***' से '***मिलइ जो संत होइं अनुकूला***' तक (३। १६) अतः भक्ति ज्ञानकाण्डसे बढ़कर है। इसीसे उसका उल्लेख पहले हुआ।

नोट—८ '***कर्म कथा***' को यमुना और '***सुकर्म***' को तीर्थराजका समाज कहा। इसमें 'पुनरुक्ति नहीं है। यमुनाजी कर्मशास्त्र हैं जिसमें कर्मोंका वर्णन है कि कौन कर्म-धर्म करनेयोग्य हैं और कौन नहीं, और शुभकर्मोंका यथायोग्य आचरण ही राजसमाज है। (रा० प्र०) (२) सू० प्र० मिश्र—(क) 'सुकर्मका अर्थ यह है कि दैवी सम्पदारूप जो शुभकर्म हैं उनका एकत्र होना यही समाज है। तीर्थका अर्थ यही है कि जहाँ बड़े लोग बैठकर ईश्वरका भजन करें वह स्थान उन्हींके नामसे कहा जाता है।' (ख) ग्रन्थकारने प्रथम विश्वास पद रखा तब अचल। कारण यह कि बिना विश्वासके अचल हो ही नहीं सकता, अचलताका कारण विश्वास है। (मा० पत्रिका)

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥ १२॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥ १३॥

शब्दार्थ—**सेवत**=सेवा वा सेवन करनेसे, सेवन करते ही। **कलेसा**=(क्लेश)=दु:ख, सङ्कट। पातञ्जल-योगसूत्रमें क्लेश पाँच प्रकारके कहे गये हैं। **'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः'** अर्थात् अविद्या (मोह, अज्ञान) अस्मिता (मैं हूँ, ऐसा अहङ्कार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युका भय)। **अकथ**=अकथ्य, जो कहा न जा सके। **अलौकिक**=लोकसे परे; जिसकी समानताकी कोई वस्तु इस लोकमें नहीं। **देइ**=देता है। **सद्य**=तुरत, शीघ्र।

अर्थ—(सन्त-समाज प्रयाग) सभीको, सब दिन और सभी ठौर प्राप्त होता है। आदरपूर्वक सेवन करनेसे क्लेशोंको दूर करनेवाला है॥ १२॥ (यह) तीर्थराज अलौकिक है। (इसकी महिमा) अकथनीय है। इसका प्रभाव प्रसिद्ध है कि यह तुरत फल देता है॥ १३॥

नोट—(१) अब सन्त-समाजमें प्रयागसे अधिक गुण दिखलाते हैं। यहाँ 'अधिक अभेद रूपक' है; क्योंकि उपमानसे उपमेयमें कुछ अधिक गुण दिखलाकर एकरूपता स्थापित की गयी है।

सन्त-समाज	प्रयाग
१. जङ्गम है। अर्थात् ये सब देशोंमें सदा विचरते रहते हैं।	स्थावर है। अर्थात् एक ही जगह स्थित है
२. *'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा'* अर्थात् (१) ऊँच-नीच, धनी-निर्धन इत्यादि कोई भी क्यों न हो, सबको सुलभ है। पुनः, (२) इसका माहात्म्य सब दिन एक-सा रहता है। पुनः, (३) सत्सङ्ग हर जगह प्राप्त हो जाता है। यथा—*'भरत दरस देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भाग। जनु सिंघलबासिन्ह भयउ बिधिबस सुलभ प्रयाग॥'* (२। २२३)	(१) सबको सुलभ नहीं, जिसका शरीर नीरोग हो, रुपया पास हो, जिससे वहाँ पहुँच सके इत्यादि ही लोगोंको सुलभ है। (२) इसका विशेष माहात्म्य केवल माघमें है जब मकर राशिपर सूर्य होते हैं। (३) स्थानविशेषमें है।
३. इसकी महिमा और गुण अकथनीय हैं। यथा—*बिधि हरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥'* (बा० ३) *'सुनु मुनि साधुनके गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥'* (३। ४६)	इसका माहात्म्य वेदपुराणोंमें कहा गया है। यथा—*बंदी बेद पुरानगन कहहिं बिमल गुनग्राम।'* (अ० १०५) अर्थात् महिमा कथ्य है।
४. जैसा इनका कथन है, भाव है, कर्म, निष्ठा, विश्वास इत्यादि हैं, वैसा कोई कहकर बता नहीं सकता और न आँखसे देखा जा सकता।	इसके सब अङ्ग देख पड़ते हैं।
५. इसकी समताका कोई तीर्थ, देवता आदि लोकमें नहीं है। सन्त-समाजके सेवन करनेवाले सन्तस्वरूप हो जाते हैं। यह फल सबपर प्रकट है। वाल्मीकिजी, प्रह्लादजी, अजामिल इत्यादि उदाहरण हैं।	लोकमें इसके समान ही नहीं, किन्तु इससे बढ़कर पञ्चप्रयाग हैं। अर्थात् देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग और विष्णुप्रयाग। हृषीकेशमें भी त्रिवेणी हैं, गालव मुनिको सूर्यभगवान्के वरदानसे यहीं त्रिवेणीस्नान हो गया था, उसका माहात्म्य विशेष है।
६. सन्त-समाजके सादर सेवनसे चारों फल इसी तनमें शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं और जीते-जी मोक्ष मिलता है। अतः इसका प्रभाव प्रकट है। सत्सङ्गसे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, यही *'अछत तन'* मोक्ष मिलना है। तुरत फल इस प्रकार कि सत्सङ्गमें महात्माओंका उपदेश सुनते ही मोह, अज्ञान मिट जाता है।	इससे भी चारों फल प्राप्त होते हैं। यथा—*'चार पदारथ भरा भंडारू।'* (अ० १०५) पर कालान्तरमें अर्थात् मरनेपर ही मोक्ष मिलता है; इसीसे इसका प्रभाव प्रकट नहीं है।

नोट—२ '*देइ सद्य फल*' से यह भी जाना जाता है कि और सब तीर्थ तो विधिपूर्वक सेवनसे कामिक अर्थात् इच्छित फल देते हैं पर सन्त-समाजका यह प्रभाव प्रकट है कि चाहे कामिक हो या न हो पर यही फल देता है जिससे लोक-परलोक दोनों बनें। (सू० प्र० मिश्र)

नोट—३ '*सेवत सादर समन कलेसा*' इति। (क) अविद्या आदि पञ्चक्लेशोंको दूर करनेके लिये योगशास्त्रका आरम्भ है। परन्तु यह सब क्लेश अनायास ही दूर हो जाते हैं, यदि सन्त-समाजका सादर सेवन किया जाय। (ख) '*सादर*' से श्रद्धापूर्वक स्नान करना कहा। यथा—'**अश्रद्दधानः पुरुषः पापोपहत-चेतनः। न प्राप्नोति परं स्थानं प्रयागं देवरक्षितम्॥**' (मत्स्यपुराण) अर्थात् जिनकी बुद्धि पापोंसे मलिन हो गयी है, ऐसे श्रद्धाहीन पुरुष देवोंद्वारा रक्षित परम श्रेष्ठ स्थान प्रयागकी प्राप्ति नहीं कर सकते। स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्डान्तर्गत ब्रह्मोत्तरखण्ड अ० १७ में श्रद्धाके सम्बन्धमें कहा है कि '**श्रद्धा तु सर्वधर्मस्य चातीव हितकारिणी। श्रद्धयैव नृणां सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयोः॥**' **श्रद्धया भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी। मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवति सिद्धिदः॥**' **श्रद्धया पठितो मन्त्रस्त्वबद्धोऽफलप्रदः। श्रद्धया पूजितो देवो नीचस्यापि फलप्रदः॥**' (३—५) अर्थात् सब धर्मोंके लिये श्रद्धा ही अत्यन्त हितकारक है। श्रद्धाहीसे लोग इहलोक और परलोक प्राप्त करते हैं। श्रद्धासे मनुष्य पत्थरकी भी पूजा करे तो वह भी फलप्रद होता है। मूर्खकी भी यदि कोई श्रद्धासे सेवा करे तो वह भी सिद्धिदायक गुरुतुल्य होते हैं। मन्त्र अर्थरहित भी हो तो भी श्रद्धापूर्वक जपनेसे वह फलप्रद होता है। और नीच भी यदि श्रद्धासे देवताका पूजन करे तो वह फलदायक होता है। पुनः, अध्याय १७ में कहा है कि मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, ओषधि और गुरुमें जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा उसको फल मिलता है। यथा, '**मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी॥**' (स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड ८)

अतएव तीर्थादिका '*सादर*' सेवन करना कहा। '*सादर*' में उद्धरणोंका सब आशय जना दिया। अश्रद्धा वा अनादरपूर्वक सेवनसे फल व्यर्थ हो जाता है, इसीसे कविने सर्वत्र '*सादर*' शब्द ऐसे प्रसङ्गोंमें दिया है। यथा—'*सादर मज्जन पान किये तें। मिटहिं पाप परिताप हिये तें॥*' (१। ४३) '*सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी।*' (१। ४४) '*सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥*' (१। ३८) '*सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर।*' (७। ६२) इत्यादि। (ग) '*जंगम*', '*सबहिं*', '*सब दिन*', '*सेवत*', '*अकथ*', '*अलौकिक*' और '*सद्य*' शब्द सन्त-समाजकी विशेषता दिखाते हैं।

नोट—४ इन चौपाइयों (६ से १३ तक) से मिलते हुए निम्न श्लोक पं० रामकुमारजीने अपने संस्कृत खर्रेमें दिये हैं। यथा— '**यत्र श्रीरामभक्तिर्लसति सुरसरिद्भारती ब्रह्मज्ञानम्। कालिन्दी कर्मगाथा हरिहरचरितं राजते यत्र वेणी॥ विश्वासः स्वीयधर्मेऽचल इव सुवटो यत्र शेते मुकुन्दः। सेव्यः सर्वैः सदासौ सपदि सुफलदः सत्समाजः प्रयागः॥**' अर्थात् जहाँ श्रीरामभक्तिरूपी गङ्गा शोभित होती हैं तथा ब्रह्मज्ञानरूपी सरस्वती और कर्म-कथारूपी यमुना स्थित हैं। जहाँ हरिहरचरितरूपी त्रिवेणी और जिसपर मुकुन्दभगवान् शयन करते हैं, ऐसा स्वधर्ममें विश्वासरूपी सुन्दर वट विराजते हैं, ऐसा तत्काल फलप्रद सत्समाजरूपी प्रयाग सबसे सदा सेव्य है।

दो०—सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधुसमाज प्रयाग॥ २॥

शब्दार्थ—**जन**=प्राणी, लोग, भक्त। **मुदित**=प्रसन्न, आनन्दित। **मज्जहिं**=स्नान करते हैं, नहाते हैं। **लहहिं**=लाभ वा प्राप्त करते हैं। **फल**=शुभकर्मोंके परिणाम जो संख्यामें चार माने जाते हैं और जिनके नाम अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हैं। **अछत** ('अछना' का कृदन्तरूप जो क्रि० वि० के रूपमें प्रयुक्त होता है। सं० अस०, प्रा० अच्छ=होना। मराठीमें '**असते**'=रहते हुए। 'स' और 'छ' का अदल-बदल हो जाता है। जैसे, '**अप्सरा**' से 'अपछरा' इत्यादि रीतिसे '**असते**' से '*अछत*' हुआ हो)=रहते हुए; जीते-जी। यथा—'*तुम्हहिं*

अछत को बरनै पारा।' (१। २७४) **साधुसमाज**-सन्तसमाज। यहाँ 'साधु' शब्द देकर इसे 'सन्त' का पर्याय जनाया।

अर्थ—१ जो लोग (या भक्त जन) साधुसमाजप्रयाग (के उपर्युक्त माहात्म्य) को आनन्दपूर्वक सुनकर समझते हैं और प्रसन्न मनसे अत्यन्त अनुरागसे इसमें स्नान करते हैं, वे जीते-जी इसी शरीरमें चारों फल प्राप्त कर लेते हैं॥ २॥

टिप्पणी—*'सुनि समुझहिं……'* इति। यथा—*'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥'* (१। ४१)' *'कासी बिधि बसि तनु तजें हठि तनु तजें प्रयाग। तुलसी जो फल सो सुलभ राम नाम अनुराग॥'* (दोहावली १४)

नोट—(१) इस दोहेमें सन्त-समाजप्रयागके स्नानकी तीन सीढ़ियाँ लिखते हैं। 'सुनना' यही किनारे पहुँचना है, 'समझना' धारामें प्रवेश करना है और जो समझनेसे आनन्द, अनुराग होता है यही डुबकी (गोता) लगाना है। इस विधानसे सन्त-समाजप्रयागके स्नानसे इसी तनमें चारों फल मिलते हैं। (पाँड़ेजी) पुनः (२) इस दोहेसे श्रवण, मनन और अभ्यास अथवा यों कहें कि दर्शन-स्पर्श और स्नान (समागम) ये तीन बातें आवश्यक बतायी हैं। यथा—*'जेहि दरस-परस-समागमादिक पापरासि नसाइए।—'* (विनय० १३६) *'मुख दीखत पातक हरै, परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत पूरुब भाग मिलाहिं॥'* (वैराग्यसं० २४) *'सुनि'* से सन्तवचन श्रवण करना, *'समुझहिं'* से मनन करना और *'मज्जहिं'* से निदिध्यासन नित्य निरन्तर अभ्यास कहा गया। बैजनाथजी लिखते हैं कि सिवाय सत्सङ्गके और कुछ न सुहाना अति अनुरागसे मज्जन करना है। करुणासिंधुजीका मत है कि *'मुदितमन'* से निदिध्यासन और अति अनुरागसे (मज्जहिं अर्थात्) साक्षात् हो।' सम्भवतः आशय यह है कि इन्द्रियद्वारा जो मन बाहर हो रहा है उसका थिर होकर अन्तरमुख हो जाना अति अनुरागपूर्वक मज्जन है। (रा० प०) (३) *'अछत तनु'* कहकर जनाया कि प्रयाग चारों फल शरीर रहते नहीं देता। यथा— **'दर्शनात्स्पर्शनात्स्नानाद्गङ्गायमुनसंगमे। निष्पापो जायते मर्त्यः सेवनान्मरणादपि।।'** (पं० रामकुमार सं० खर्रा)

दूसरा अन्वय—*'साधुसमाजप्रयागको जे जन मुदित मनसे सुनि समुझहिं ते अति अनुराग ते मज्जहिं'* (तथा) *'अछत तनु चारि फल लहहिं'।*

अर्थ—२ सन्त-समाजरूपी प्रयागके त्रिविधवचन मुदित मनसे जो जन सुनते और समझते हैं, वे ही बड़े अनुरागसे इसमें स्नान करते हैं और शरीरके रहते ही चारों फल प्राप्त करते हैं॥ २॥ (गौड़जी, रा० प्र०)

नोट—२ यहाँ *'प्रयाग'* से त्रिवेणी लक्षित है। **हरिहरकथा**=त्रिवेणी। इस अर्थके अनुसार सन्त-समाजमें 'हरिहरकथा' को सुनकर समझना ही त्रिवेणीका स्नान है। पंजाबीजीका मत है कि सुनकर समझने अर्थात् श्रवण-मनन करनेसे जो प्रसन्नता होती है वही प्रेमसहित मज्जन है।

मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥ १॥
सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई॥ २॥
बालमीक नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥ ३॥

शब्दार्थ—पेखिय (सं० प्रेक्षण)=दिखायी देता है; देख लीजिये; देख पड़ता है। **ततकाला**=उसी समय। **काक**=कौवा। **पिक**=कोयल, कोकिल। **बकउ**=बक+उ=बगुला भी। **मराल**=हंस। **जनि**=मत, नहीं। **आचरज**=आश्चर्य, अचम्भा। **गोई**=छिपी हुई, गुप्त। **घटजोनी** (घटयोनि)=कुम्भज, घड़ेसे जो उत्पन्न हुए, अगस्त्यजी। **मुखनि**=मुखोंसे। **होनी**=उत्पत्ति और फिर क्या-से-क्या हो गये। जीवनका वृत्तान्त।

अर्थ—(सन्त-समाजप्रयागमें) स्नानका फल तत्काल देख पड़ता है। (कि) कौवे, कोकिल और बगुले भी हंस हो जाते हैं॥ १॥ यह सुनकर कोई आश्चर्य न करे। सत्सङ्गतिका प्रभाव छिपा नहीं है॥ २॥ श्रीवाल्मीकिजी, श्रीनारदजी और श्रीअगस्त्यजीने अपने-अपने मुखोंसे अपना-अपना वृत्तान्त कहा है॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'मज्जन फल पेखिय ततकाला'*** इति। (क) ऊपर दोहेमें ***'लहहिं चारि फल अछत तनु'*** अर्थात् शरीरके रहते जीते-जी चारों फलोंकी प्राप्ति कही। इस कथनसे फलके मिलनेमें कुछ विलम्ब पाया गया, न जाने कितनी बड़ी आयु हो और उसमें न जाने कब मिले? इस सन्देहके निवारणार्थ यहाँ ***'ततकाला'*** पद दिया। अर्थात् सत्सङ्गका फल तुरन्त मिलता है। पुनः, (ख) ***'ततकाला'*** से यह भी जनाया कि प्रयाग 'तत्काल' फल नहीं देता, मरनेपर ही (मोक्ष) देता है। (ग) ***'ततकाला'*** देहली-दीपक है, ***'मज्जन फल पेखिय'*** और ***'काक होहिं पिक बकउ मराला'*** दोनोंके साथ है। मज्जनका फल तत्काल देख पड़ता है और तत्काल ही काक पिक हो जाते हैं, बगुला हंस हो जाता है। (घ) यहाँ 'अन्योक्ति अलङ्कार' है। काक-पिकके द्वारा दूसरोंको कहते हैं, अर्थात् दुष्ट शिष्ट हो जाता है तथा कटुभाषी मिष्टभाषी हो जाता है।

टिप्पणी—२ ***'काक होहिं पिक बकउ मराला'*** इति। (क) काक और बक कुत्सित पक्षी हैं। यथा—***'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल।'*** (२। २८१) ***'तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥'*** (१। ३८) ***'जेहि सर काक कंक बक सूकर' क्यों मराल तहँ आवत॥'*** (विनय० १८५) पिक और हंस उत्तम पक्षी हैं। [काक चाण्डाल, हिंसक, कठोर बोलनेवाला, मलिनभक्षी, छली और शङ्कित-हृदय होता है। काकसे काकसमान कुजाति, हिंसक, मलिनभक्षी, कटुकठोरवादी, छली, अविश्वासी इत्यादि मनुष्य अभिप्रेत हैं। यथा—***'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥'*** (२। ३०२) ***'होहि निरामिष कबहुँ कि कागा।'*** (१। ५) ***'सत्य बचन बिश्वास न करहीं। बायस इव सबहीं ते डरहीं।'*** (७। ११२) ***'मूढ़ मंदमति कारन कागा'*** (३। १) काकके विपरीत कोकिल सुन्दर रसालादिका खानेवाला, मङ्गल (शुभ) जाति और मधुरभाषी इत्यादि होता है। काक पिक हो जाता है अर्थात् काकसमान जो हिंसक, कटुवादी, कुजाति, छली, मलिन इत्यादि दुर्गुणोंसे युक्त हैं वे पिकसमान सुजाति, उत्तम वस्तुओं (भगवत्-प्रसाद आदि) का सेवन करनेवाले, स्वच्छ शुद्ध हृदयवाले, विश्वासी एवं गुरु, सन्त और भगवान् तथा उनके वाक्योंपर विश्वास करनेवाले 'मधुरभाषी (भगवत्-कीर्त्तन, श्रीरामनामयशके गान करनेवाले एवं मिष्ट) प्रिय और सत्य बोलनेवाले हो जाते हैं। इसी तरह बगुला हिंसक, विषयी, दम्भी (जलाशयोंके तटपर आँख मूँदा हुआ-सा बैठा देख पड़ता है, पर मछलीके आते ही तुरन्त उसको हड़प कर जाता है) होता है। हंस विवेकी होता है। वह सार दूधको ग्रहण कर लेता है और असार जलको अलग करके छोड़ देता है।] ***'बकउ मराला होहिं'*** अर्थात् जो दम्भी, कपटी और विषयी हैं, वे कपट, दम्भ आदि छोड़कर हंससमान विवेकी और सुहृद् हो जाते हैं। यथा—***'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।'*** (१। ६) (ख) बाह्य और अंतरशुद्धि दिखानेके लिये काक और बक दो ही दृष्टान्त दिये। बाहरकी शुद्धि दिखानेके लिये काक-पिककी उपमा दी और अन्तरशुद्धिके लिये बक-हंसकी। ***'काक होहिं पिक'*** अर्थात् सन्तोंका जैसा ऊपरका व्यवहार देखनेमें आता है, वैसा वे भी बरतने लगते हैं। मधुरभाषी हो जाते हैं। (प्रथम मिष्ट वाक्य बोलने लगते हैं यह सन्तोंके बाह्यव्यवहारका ग्रहण दिखाया। फिर अन्तरसे भी निर्मल हो जाते हैं, यह ***'बकउ मराला'*** कहकर बताया।) ***'बकउ मराला'*** अर्थात् विवेकी हो जाते हैं [विशेष भाव (क) में ऊपर दिये गये हैं]। सत्सङ्गसे प्रथम तो सन्तोंका-सा बाह्यव्यवहार होने लगता है, फिर अन्तःकरण भी शुद्ध हो जाता है। [भाव यह है कि सन्त-समाजप्रयागमें स्नान करनेसे केवल चारों फलों (अर्थ-धर्मादि)की ही प्राप्ति नहीं होती, किन्तु साथ-ही-साथ स्नान करनेवालोंके हृदयोंमें अनेक सद्गुण भी प्राप्त हो जाते हैं, रूप वही बना रहता है।] वा (ग) विषयी, कामी ही बक, काक हैं।

यथा—'*अति खल जे बिषई बक कागा।*' (१। ३८) अतः काक, बककी उपमा देकर अत्यन्त विषयी दुष्टोंका भी सुधरना कहा।

नोट— १ '*बकउ मराला*' इति। पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि '*बकमें लगे उकारसे अद्भुतरस प्रगटात। दंभी हिंसक कुटिलहू ज्ञानी हंस लखात॥*' तथा च काक-पिकका सम्बन्ध भी है; क्योंकि काक ही कोयलको पोसता है (कोयल अपना अण्डा कौवेके घोंसलेमें रख देती है, कौवा उसे अपना जानकर सेता है, वहीं उसमेंसे बच्चा निकलता है)। यहाँ काकमें केवल क्रूरभाषिताका दूषण दिखाकर पिककी मधुरभाषितामें सम्बन्ध मिलाया है। बक और हंसमें बड़ा अन्तर है। दोनोंकी बोल-चाल, चरण-चोंचका रंग और निवास तथा भोजन एक-दूसरेसे भिन्न हैं। कविने इनके केवल अन्तरङ्गभावका मिलान किया है, बाहरी आकृति आदिका नहीं। बकमें अन्तरङ्ग मलिनता आदि अनेक दोष देख 'बक' शब्दमें 'उ' लगाकर उसके दोषोंको सूचित कर हंसके सद्गुणोंमें सम्बन्धित किया है। यहाँ उकार आश्चर्यका द्योतक है कि न होनेयोग्य बात हो गयी।'

नोट—२ सन्त-समाजमें आनेपर भी जब वही पूर्व शरीर बना रहता है तब कौवेसे कोयल होना कैसे माना जाय? उत्तर यह है कि कौवा और कोकिलकी आकृति एक-सी होती है। कौवेमें कोयलकी वाणी आ जाय तो वह कोयल कहा जाता है। अतः शरीर दूसरा होनेका कोई काम नहीं। इसी तरह जब बगुलेमें हंसका गुण आ जाता है तब वह हंस कहा जाता है; दोनोंकी शक्ल भी एक-सी होती है। वैसे ही मनुष्य जब मायाबद्ध रहता है तब कौवेके समान कठोर वाणी बोलता है, सन्त-समाजमें आनेपर वही कोकिलकी बोली बोलने लगता है, उसमें दया-गुण आ जाता है और हिंसक-अवगुण चला जाता है। उस समय वह काकसे पिक और बकसे हंस हो जाता है। (नंगे परमहंसजी)

नोट—३ यहाँ 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है। यथा—'*और वस्तुके गुणन ते और होत बलवान।*' 'अनुगुण' अलङ्कार नहीं है, क्योंकि 'अनुगुण' का लक्षण है 'अपने पूर्व गुणका दूसरेके संगसे और अधिक बढ़ना'। ११ (१-२) '*मनि मानिक—*' देखिये। और 'तद्गुण' भी नहीं है क्योंकि इसमें 'गुण' का अर्थ केवल रंग है और उल्लास तथा अवज्ञामें 'गुण' का अर्थ 'धर्म' अथवा 'दोष' का विरोधी भाव है। (अलङ्कार मं०)

टिप्पणी—३ '*सुनि आचरज करै जनि कोई*' इति। (क) कौवे कोयल हो जाते हैं और बगुले हंस। यह सुनकर आश्चर्य हुआ ही चाहे। क्योंकि स्वभाव अमिट है। यथा—'*मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू।*' (१। ७) '**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि—**' (गीता ३। ३३) अर्थात् सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अपने स्वभावसे परवश हुए कर्म करते हैं; ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। नीतिवेत्ताओंने इस बातको तर्क-वितर्क करके खूब दृढ़ किया है। यथा, '**काकः पद्मवने रतिं न कुरुते हंसो न कूपोदके। मूर्खः पण्डितसङ्गमे न रमते दासो न सिंहासने॥ कुस्त्री सज्जनसङ्गमे न रमते नीचं जनं सेवते। या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते॥**' (सु० र० भा० स्वभाववर्णन श्लोक २१) अर्थात् कौवा कमलवनमें नहीं रमता, हंस कूपोदकमें नहीं रमते। मूर्ख पण्डितोंके संग नहीं रमते और न दास सिंहासनपर। कुत्सित स्त्रियाँ सज्जनसङ्गमें न रमणकर नीच पुरुषोंका ही सेवन करती हैं। क्योंकि जिसकी जो प्रकृति होती है वह उसे कदापि नहीं छोड़ता। अतः सन्देह हुआ कि जब स्वभाव अमिट है तो कविने बहुत बढ़ाकर कहा होगा, वस्तुतः ऐसा है नहीं। इस सन्देह और आश्चर्यके निवारणार्थ कहते हैं कि '*सुनि आचरज करै जनि कोई।*' '**प्राप्तौ सत्यां निषेधः।**' जब किसी प्रसङ्गकी प्राप्ति होती है तभी उसका निषेध किया जाता है। यहाँ कोई आश्चर्य कर सकते हैं, इसीसे उसका निषेध किया गया है। (ख) '*सतसंगति महिमा नहिं गोई*' इति। यहाँसे सत्सङ्गकी महिमा कहते हैं। भाव यह है कि जो बात अनहोनी है (जैसे काकका पिक, बकका हंस-स्वभावका बदल जाना) वह भी सत्सङ्गतिसे हो जाती है। इसीको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं '*महिमा नहिं गोई*', महिमा छिपी नहीं है, प्रसिद्ध है। महिमा प्रसिद्ध है; इसीसे जो महात्मा जगत्प्रसिद्ध हैं, उन्हींका क्रमसे उदाहरण देते हैं। वाल्मीकिजीको प्रथम कहा;

क्योंकि *'काक होहिं पिक'* और *'बकउ मराला'* को क्रमसे घटाते हैं। वाल्मीकिजी काकसे पिक हुए। यथा— **'कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥'** (वाल्मीकीयके संगृहीत मङ्गलाचरणसे) कठोरभाषी व्याधा आदि दुर्गुणयुक्त थे, सो मधुरभाषी, ब्रह्माके पुत्र और ब्रह्मर्षि हो गये। नारदजी और अगस्त्यजी बकसे मराल हो गये। (ग) इनको महात्मा होनेका उदाहरण देकर आगे उनको पदार्थकी प्राप्ति होनेका उदाहरण देते हैं।

नोट—४ *'बालमीक नारद घटजोनी। निज निज मुखनि……'* इति। (क) यहाँ तीन दृष्टान्त और वह भी बड़े-बड़े महात्माओंके दिये गये—यही तीन दृष्टान्त दिये; क्योंकि ये तीनों महात्मा प्रामाणिक हैं। सारा जगत् इनको जानता और इनके वाक्यको प्रमाण मानता है, इससे ये प्रमाण पुष्ट हुए। (ख) *'निज निज मुखनि।'* से सूचित किया कि दूसरा कहता तो चाहे कोई सन्देह भी करता परन्तु अपने-अपने मुखसे कहा हुआ अवश्य प्रमाण माना जायगा। (ग) कब, किससे और कहाँ इन महात्माओंने अपने-अपने जीवन-वृत्तान्त कहे? महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीरामचन्द्रजीसे अपना वृत्तान्त कहा था जब वे वनवासके समय आपके आश्रमपर पधारे थे। यह बात अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६ में लिखी हुई है। श्रीरामनामके प्रभावके सम्बन्धमें यह कथा कही गयी है। आपके नामके प्रभावसे ही मैं ब्रह्मर्षि हुआ यह कहकर उन्होंने अपनी कथा कही है।

श्रीनारदजीने व्यासजीसे अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा। श्रीमद्भागवत स्कन्द १, अध्याय ५ एवं ६ में यह कथा है कि जब व्यासजीने, इस विचारसे कि स्त्री, शूद्र, अन्त्यज वेदत्रयीके पढ़ने-सुननेके अधिकारी नहीं हैं और कलिमें अल्पबुद्धि लोग होंगे जो उन्हें समझ भी न सकेंगे, वेदोंका सारांश भारत उपाख्यान रचा, सत्रह पुराण रच डाले, इतना परोपकार करनेपर भी जब उनका चित्त शान्त न हुआ तब वे चिन्तामें निमग्न हो गये, मन-ही-मन चिन्तन करने लगे कि 'इतनेपर भी मेरा जीवात्मा अपने स्वरूपको अप्राप्त-सा जान पड़ता है। क्या मैंने अधिकतर भागवतधर्मोंका निरूपण नहीं किया?......'। इसी समय नारदजी इनके पास पहुँच गये। कुशल-प्रश्न करते हुए अन्तमें कहने लगे कि ऐसा जान पड़ता है कि आप अकृतार्थकी भाँति शोचमें मग्न हैं सो क्यों? व्यासजीने अपना दुःख कहकर प्रार्थना की कि चित्तको सुखी करनेवाला जो कार्य मुझे करना शेष है वह आप मुझे बताइये। नारदजीने उन्हें हरियश-कथनका उपदेश दिया और यह कहते हुए कि कवियोंने भक्तिपूर्वक हरिगुणगान करना ही सर्वधर्मोंका एकमात्र परम फल कहा है, अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहने लगे। शिवजी सत्सङ्गके लिये अगस्त्यजीके पास जाया ही करते थे। यथा, *'एक बार त्रेताजुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं॥'* (१। ४८) श्रीसनकादि ऋषियोंका भी उनके सत्सङ्गके लिये जाना पाया जाता है यथा—*'तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ग्यानी॥'* (७। ३२) श्रीरामजीका वनवासके समय उनके यहाँ जाना अरण्यकाण्डमें कहा गया है। राजगद्दीपर बैठनेके समय अगस्त्यजीका श्रीरामजीके पास आना और श्रीरामजीके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीहनुमान्‌जी, मेघनाद आदिके चरितका कहना वाल्मीकीयमें पाया जाता है। राजगद्दीके पश्चात् भी श्रीरामजीका महर्षि अगस्त्यजीके यहाँ जाना वाल्मीकीयमें एवं पद्मपुराण आदिमें है, जब महर्षिने उन्हें एक आभूषण भेंट किया और उसका सब वृत्तान्त कहा। इन्हीं प्रसङ्गों या अवसरोंपर अगस्त्यजीने सम्भवतः श्रीशिवजी, श्रीसनकादिजी या श्रीरामजीसे अपनी 'होनी' का वृत्तान्त कहा होगा।

नोट— ५ पं० शिवलाल पाठकका मत यह है कि यहाँ 'वाल्मीकि और नारदके लिये काक-पिक और बक-मरालसे रूपक दिया है; परन्तु अगस्त्यजीके लिये कोई रूपक नहीं है, अतः *'घटजोनी'* शब्दका अर्थ नीच योनि है। अर्थात् घटयोनिज (नीच योनीसे उत्पन्न) वाल्मीकि और नारद सत्सङ्गसे सुधरे हैं....ऐसा अर्थ इस चौपाईका है।'—(मानसअभिप्रायदीपक) उसी परम्पराके महादेवदत्तजीका भी यही मत है। यथा—*'वाल्मीकि नारद युगल जाके युगल प्रमान। काक कोयली हंस बक घट जू इन कहँ जान॥'* बैजनाथजी लिखते हैं कि बगुले दो प्रकारके होते हैं, एक सफेद, दूसरे मैले। इसी प्रकार विषयी भी दो प्रकारके

होते हैं, एक विषयासक्त, दूसरे भीतरसे विषयासक्त परन्तु सत्यासत्य-विवेक होनेसे ऊपरसे मैली क्रिया नहीं करते। इसलिये बकके दो दृष्टान्त दिये गये।

यह जरूरी नहीं है कि जितने कर्म कहे जायँ उतने ही उदाहरण भी दिये जायँ। कभी कई कर्मोंके लिये कवि एक ही दृष्टान्त पर्याप्त समझते हैं, कभी अधिक महत्त्व दिखानेके लिये एक ही धर्मके कई दृष्टान्त देते हैं। यथा—*'लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥' 'उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥'* (१। ७) *'कियेहुँ कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू।'* (१। ७) *'संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनी।'* (१। १४) इत्यादिमें। प्रथम साधारण बात कह दी गयी कि *'काक होहिं पिक बकउ मराला'* और फिर इसीको अधिक पुष्ट करनेके लिये *'बाल्मीक नारद घटजोनी'* उदाहरण विशेषरूपसे दिये गये; इतना ही नहीं वरन् फिर आगे कहते हैं कि *'जलचर थलचर नभचर नाना'*। अर्थात् ये सब सत्सङ्गकी महिमाहीके उदाहरण हैं, नाम कहाँतक गिनाये जायँ।

'घटजोनी' शब्द गोस्वामीजीने अ० २३२ (२) में भी अगस्त्यजीहीके लिये प्रयुक्त किया है। यथा—*'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी।'* अन्य अर्थमें कहीं नहीं आया है। पंजाबीजी, करुणासिंधुजी, बैजनाथजी, बाबा जानकीदासजी, बाबा हरिहरप्रसादजी एवं प्राय: सभी आधुनिक टीकाकारोंने *'घटजोनी,* से श्रीअगस्त्यजीका ही अर्थ लिया है।

श्रीजानकीशरण नेहलताजीने पं० शिवलाल पाठकजीके अर्थपर जो उपर्युक्त विचार मानसपीयूष-प्रथम संस्करणमें प्रकट किये गये थे उनका खण्डन इस प्रकार किया है—'इसपर मेरा निजी सिद्धान्त है कि एक धर्मके हजारों दृष्टान्त आये हैं। परन्तु *'बाल्मीक नारद घटजोनी'* इस चौपाईमें सारे उदाहरणोंके घटानेसे नहीं बनेगा। इस प्रसङ्गमें दोके उदाहरणसे क्रमालङ्कार होता है और अर्थ भी सरल प्रकारसे लगता है। शब्दोंकी खींच-खाँच नहीं करनी पड़ती। अगस्त्यजीका अर्थ नहीं करनेसे कुछ बिगड़ता नहीं है।'''''' *'घटजोनी'* का अर्थ अगस्त्यजीका एक स्थलपर आया है—*'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी॥'* अब इस प्रमाणसे *'घटजोनी'* का अर्थ दूसरा करना मना है। इसपर मैं सहमत नहीं हूँ।''''''मानसमें हरि शब्दका अर्थ सैकड़ों स्थलोंपर विष्णुभगवान् है और किष्किन्धाकाण्डमें, *'कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा'* में 'हरि' का अर्थ वानर कैसे किया जाता है? मानसभरमें एक ही स्थानपर वानरका अर्थ लगता है। पुनि *'हरि हित सहित राम जब जोहे'* में 'हरि' का अर्थ 'घोड़ा' यह भी एक ही स्थानपर है। इसी प्रकार *'घटजोनी'* का अर्थ एक स्थानपर अगस्त्यजीका लगानेपर दूसरे स्थानमें उसीका अर्थ (नीच योनि) अलग नहीं है।''''''वाल्मीकि और नारदजीके इतिहाससे स्पष्ट है कि दोनों पापाचरण करते हुए सत्सङ्गद्वारा महात्मा बन गये परन्तु अगस्त्यजीके इतिहाससे यह बात प्रकट नहीं होती।''''''अगस्त्यजीका कौन भ्रष्टाचरण प्रसिद्ध था जिससे सुधरना माना जाय। जैसे वसिष्ठजीका सत्सङ्ग अगस्त्यजीको हुआ उसी प्रकार अगस्त्यजीका सत्सङ्ग वसिष्ठजीको हुआ तो वसिष्ठजीका सुधरना भी कहा जा सकता है। अगस्त्यजीकी उत्पत्ति वरुणतेजसे हुई। जन्म भी उत्तम और पश्चात् आचरणका भ्रष्ट होना भी वर्णित नहीं। इससे उपर्युक्त दोनों (वाल्मीकि, नारद) हीके सुधरनेकी सङ्गति ठीक बैठती है।'

नोट—६ शब्दसागरमें लिखा है कि 'घट' शब्द विशेषण होकर 'बढ़' के साथ ही अधिकतर होता है। अकेले इसका क्रियावत् प्रयोग 'घटकर' ही होता है, जैसे वह कपड़ा इससे कुछ घटकर है। (श० सा०) 'घट' इस अर्थमें हिन्दी शब्द ही है, संस्कृत नहीं। 'घटयोनि' 'घटयोनिज' समास इस अर्थमें बन नहीं सकता। घटज, कुम्भज, घटसम्भव और घटजोनी श्रीअगस्त्यजीके ये नाम ग्रन्थकारने स्वयं अपने सभी ग्रन्थोंमें प्रयुक्त किये हैं। वाल्मीकिजी नीच योनिमें उत्पन्न नहीं हुए। वे प्रचेता ऋषि अथवा वल्मीकिजीके पुत्र थे। नारदजी दासीपुत्रमात्र थे; दुराचारी वा 'पापाचरण' वाले न थे जैसा भागवतसे स्पष्ट है। श्रीवसिष्ठजी पूर्वसे ही बड़े महात्मा थे और ब्रह्माजीके पुत्र ही थे। निमिके शापोद्धारके लिये ब्रह्माने उन्हें अयोनिज होनेका उपाय बताया था। अगस्त्यजी पूर्व क्या थे किसी टीकाकारने भी इसपर प्रकाश नहीं डाला है।

हमने जो खोज अबतक की है वह आगे दी गयी है। ग्रन्थकार आगे यह भी कहते हैं कि '*जलचर थलचर नभचर*' में जहाँ भी जो बड़ा महात्मा हुआ वह सत्सङ्गसे ही। इससे भी अगस्त्यजी भी यदि सत्सङ्गसे बढ़े हों तो आश्चर्य क्या?

☞ इस दीनका कोई हठ नहीं है। दोनों विचार लिखे हैं। जिसको जो भावे वह ले सकेगा।

वीरकविजी लिखते हैं कि वाल्मीकिजी बिलसे, नारदजी दासीसे और अगस्त्यजी घड़ेसे उत्पन्न हैं। इनकी उत्पत्तिके योग्य एक भी कारण पर्याप्त न होना 'चतुर्थ विभावना अलङ्कार' है।

महर्षि वाल्मीकिजी—अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६ (श्लोक ६४ से ८८ तक) में लिखा है कि वाल्मीकिजीने अपना वृत्तान्त रामचन्द्रजीसे यों कहा था कि हे रघुनन्दन! मैं पूर्वकालमें किरातोंमें बालपनेसे पलकर युवा हुआ, केवल जन्ममात्रसे तो मैं विप्रपुत्र हूँ; शूद्रोंके आचारमें सदा रत रहा। शूद्रास्त्रीसे मेरे बहुत-से पुत्र हुए। तदनन्तर चोरोंका सङ्ग होनेसे मैं भी चोर हुआ। नित्य ही धनुष-बाण लिये जीवोंका घात करता था। एक समय एक भारी वनमें मैंने सात तेजस्वी मुनियोंको आते देखा तो उनके पीछे 'खड़े रहो, खड़े रहो' कहता हुआ दौड़ा। मुनियोंने मुझे देखकर पूछा कि 'हे द्विजाधम! तू क्यों दौड़ा आता है?' मैंने कहा कि मेरे पुत्र, स्त्री आदि बहुत हैं, वे भूखे हैं। इसलिये आपके वस्त्रादिक लेने आ रहा हूँ। वे बिकल न हुए किन्तु प्रसन्न मनसे बोले कि तू घर जाकर सबसे एक-एक करके पूछ कि जो पाप तूने बटोरा है इसको वे भी बटावेंगे कि नहीं? मैंने ऐसा ही किया; हर एकने यही उत्तर दिया कि हम तुम्हारे पापके भागी नहीं, वह पाप तो सब तुझको ही लगेगा। हम तो उससे प्राप्त हुए फलको ही भोगनेवाले हैं।—'**पापं तवैव तत्सर्वं वयं तु फलभागिनः॥**' (७४) ऐसे वचन सुन मेरे मनमें निर्वेद उपजा, अर्थात् खेद और ग्लानि हुई। उससे लोकसे वैराग्य हुआ और मैं फिर मुनियोंके पास गया। उनके दर्शनसे निश्चय करके मेरा अन्तःकरण शुद्ध हुआ। मैं दण्डाकार उनके पैरोंपर गिर पड़ा और दीन वचन बोला कि 'हे मुनिश्रेष्ठ! मैं नरकरूप समुद्रमें आ पड़ा हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।' मुनि बोले 'उठ, उठ, तेरा कल्याण हो। सज्जनोंका मिलना तुझको सफल हुआ। हम तुझे उपदेश देंगे जिससे तू मोक्ष पावेगा'। मुनि परस्पर विचार करने लगे कि यह अधर्मी है तो क्या, अब शरणमें आया है, रक्षा करनी उचित है। और फिर मुझे 'मरा' 'मरा' जपनेका उपदेश दिया और कहा कि एकाग्र मनसे इसी ठौर स्थित रहकर जपो, जबतक फिर हम लौट न आवें। यथा—'**इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा॥**' (८०) (अर्थात् हे राम! ऐसा विचारकर उन्होंने आपके नामाक्षरोंको उलटा करके मुझसे कहा कि तू इसी स्थानपर रहकर एकाग्रचित्तसे सदा, 'मरा, मरा' जपा कर।) मैंने वैसा ही किया, नाममें तदाकार हो गया, देहसुध भूल गयी, दीमकने मिट्टीका ढेर देहपर लगा दिया, जिससे वह बाँबी हो गयी। हजार युग बीतनेपर वे ऋषि फिर आये और कहा कि बाँबीसे निकल। मैं वचन सुनते ही निकल आया। उस समय मुनि बोले कि तू वाल्मीकि' नामक मुनीश्वर है, क्योंकि तेरा यह जन्म वल्मीकसे हुआ है। रघुनन्दन! उसीके प्रभावसे मैं ऐसा हुआ कि श्रीसीता-अनुज-सहित साक्षात् घर बैठे आपके दर्शन हुए। विशेष दोहा १४ '*बंदौं मुनि पद*.........'में देखिये।

देवर्षि श्रीनारदजी—इन्होंने अपनी कथा व्यासजीसे इस प्रकार कही है कि 'मैं पूर्वजन्ममें वेदवादी ब्राह्मणोंकी एक दासीका पुत्र था। चातुर्मास्यमें एक जगह रहनेवाले कुछ योगी वहाँ आकर ठहरे। मैं बाल्यावस्थाहीमें उनकी सेवामें लगा दिया गया। बालपनेसे ही मैं चञ्चलतासे रहित, जितेन्द्रिय, खेल-कूदसे दूर रहनेवाला, आज्ञाकारी, मितभाषी और सेवापरायण था। उन ब्रह्मर्षियोंने मुझपर कृपा करके एक बार अपना उच्छिष्ट सीथ प्रसादी खानेको दिया—'**उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।**' (भा० १। ५। २५) जिसके पानेसे मेरा सम्पूर्ण पाप नष्ट और चित्त शुद्ध हो गया तथा भगवद्धर्ममें रुचि उत्पन्न हो गयी। मैं नित्यप्रति भगवत्कथा सुनने लगा जिससे मनोहरकीर्त्तिवाले भगवान्‌में मेरी रुचि और बुद्धि निश्चल हो गयी तथा रजोगुण और तमोगुणको नष्ट करनेवाली भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ।

जब वे मुनीश्वर वहाँसे जाने लगे तब उन्होंने मुझे अनुरागी, विनीत, निष्पाप, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय और अनुयायी जानकर उस गुह्यतम ज्ञानका उपदेश किया जो साक्षात् भगवान्का ही कहा हुआ है। **'ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम्।'** (भा० १।५।३०) जिससे मैंने भगवान्की मायाका प्रभाव समझा और जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर मनुष्य भगवान्के धामको प्राप्त होता है। (भा० १।५।२३—३१)

ज्ञानोपदेश करनेवाले भिक्षुओंके चले जानेपर मैं माताके स्नेहबन्धनके निवृत्त होनेकी प्रतीक्षा करता हुआ ब्राह्मणपरिवारमें ही रहा, क्योंकि मेरी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी। एक दिन माताको सर्पने डँस लिया और वह मर गयी। इसे भगवान्का अनुग्रह समझकर मैं उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। अन्तमें एक बड़े घोर भयंकर वनमें पहुँचकर नदीके कुण्डमें स्नान-पानकर थकावट मिटायी। फिर एक पीपलके तले बैठकर जैसा सुना था उसी प्रकार परमात्माका ध्यान मन-ही-मन करने लगा। जब अत्यन्त उत्कण्ठावश मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे तब हृदयमें श्रीहरिका प्रादुर्भाव हुआ—**'औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥'** (भा० १।६।१७) थोड़ी ही देरमें वह स्वरूप अदृश्य हो गया। बहुत प्रयत्न करनेपर भी जब वह दर्शन फिर न हुआ तब मुझे व्याकुल देख आकाशवाणी हुई कि 'तुम्हारा अनुराग बढ़ानेके लिये तुमको एक बार यह रूप दिखला दिया गया। इस जन्ममें अब तुम मुझे नहीं देख सकते। इस निन्द्य शरीरको छोड़कर तुम मेरे निज जन होगे, तुम्हारी बुद्धि कभी नष्ट न होगी।'' तत्पश्चात् मैं भगवान्के नाम, लीला आदिका कीर्तन-स्मरण करता कालकी प्रतीक्षा करता हुआ पृथिवीतलपर विचरने लगा। काल पाकर शरीर छूट गया। कल्पान्त होनेपर ब्रह्माजीके श्वासद्वारा मैं उनके हृदयमें प्रविष्ट हुआ। फिर सृष्टि होनेपर मरीचि आदिके साथ मैं भी ब्रह्माजीका मानस पुत्र हुआ। भगवान्की कृपासे मेरी अव्याहत गति है। भगवान्की दी हुई वीणाको बजाकर हरिगुण गाता हुआ सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता हूँ। चरित गाते समय भगवान्का बराबर दर्शन होता है। यह मेरे जन्म-कर्म आदिका रहस्य है। (भा० १।५।६)

महर्षि श्रीअगस्त्यजी—प्राचीन कालमें किसी समय इन्द्रने वायु और अग्निदेवको दैत्योंका नाश करनेकी आज्ञा दी। आज्ञानुसार इन्होंने बहुत-से दैत्योंको भस्म कर डाला, कुछ जाकर समुद्रमें छिप रहे। तब इन्होंने उनको अशक्त समझकर उन दैत्योंकी उपेक्षा की। वे दैत्य दिनमें समुद्रमें छिपे रहते और रात्रिमें निकलकर देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्यादिका नाश किया करते थे। तब इन्द्रने फिर अग्नि और वायुको आज्ञा दी कि समुद्रका शोषण कर लो। ऐसा करनेमें करोड़ों जीवोंका नाश देख, इस आज्ञाको अनुचित जानकर उन्होंने समुद्रका शोषण करना स्वीकार न किया। इन्द्रने कहा कि देवता धर्म-अधर्मके भागी नहीं होते, वे वही करते हैं जिससे जीवोंका कल्याण हो, तुम्हीं दोनों ज्ञान छाँटते हो, अतः तुम दोनों एक मनुष्यका रूप धारणकर पृथ्वीपर धर्मार्थशास्त्ररहित योनिसे जन्म लेकर मुनियोंकी वृत्ति धारण करते हुए जाकर रहो और जबतक तुम वहाँ चुल्लूसे समुद्रको न पीकर सुखा लोगे तबतक तुम्हें मर्त्यलोकमें ही रहना पड़ेगा। इन्द्रका शाप होते ही उनका पतन हुआ और उन्होंने मर्त्यलोकमें आकर जन्म लिया।

उन्हीं दिनोंकी बात है कि उर्वशी मित्रके यहाँ जा रही थी, वे उसको उस दिनके लिये वरण कर चुके थे, रास्तेमें उसे जाते हुए देख उसके रूपपर आसक्त हो वरुणने उसको अपने यहाँ बुलाया तब उसने कहा कि मैं मित्रको वचन दे चुकी हूँ। वरुणने कहा कि वरण शरीरका हुआ है तुम मन मेरेमें लगा दो और शरीरसे वहाँ जाना। उसने वैसा ही किया। मित्रको यह पता लगनेपर उन्होंने उर्वशीको शाप दिया कि तुम आज ही मर्त्यलोकमें जाकर पुरुरवाकी स्त्री हो जाओ। मित्रने अपना तेज एक घटमें रख दिया और वरुणने भी उसी घटमें अपना तेज रखा। एक समय निमिराजा जब स्त्रियोंके साथ जूआ खेल रहे थे श्रीवसिष्ठजी उनके यहाँ गये। जूएमें आसक्त राजाने गुरुका आदर, सत्कार नहीं किया। इससे श्रीवसिष्ठजीने उनको देहरहित होनेका शाप दिया। पता लगनेपर राजाने उनको भी वैसा ही शाप दिया। दोनों शरीररहित होकर ब्रह्माजीके पास गये। उनके आज्ञानुसार राजा निमिको लोगोंकी पलकोंपर निवास मिला और वसिष्ठजीने उपर्युक्त मित्रावरुणके तेजवाले घटसे आकर जन्म लिया। इधर वायुसहित अग्निदेव

भी उसी घटसे वसिष्ठजीके पश्चात्, चतुर्बाहु, अक्षमाला कमण्डलधारी अगस्त्यरूपसे उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् उन्होंने स्त्रीसहित वानप्रस्थविधानसे मलयपर्वतपर जाकर बड़ी दुष्कर तपस्या की। इस दुष्कर तपस्याके पश्चात् उन्होंने समुद्रको पान कर लिया, तब ब्रह्मादिने आकर इनको वरदान दिया। (पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० २२ श्लोक ३—४८)

इस कथासे ये बातें ध्वनित होती हैं कि (१) अग्नि और वायु इन्द्रकी आज्ञामें रहनेवाले सामान्य देवता थे। (२) शापसे मनुष्य हुए। (३) **'मलयस्यैकदेशे तु वैखानसविधानतः। सभार्यः संवृतो विप्रैस्तपश्चक्रे सुदुष्करम्॥'** (४०) इस श्लोकसे जान पड़ता है कि जिन ब्राह्मणोंके साथ वे तपश्चर्या करने गये, वे अवश्य उच्चकोटिके महर्षि होंगे और उन्हींके सत्सङ्गद्वारा वे तपश्चर्यामें तत्पर होकर ऐसे समर्थ महर्षि हुए कि इन्द्रादिको उनसे आ-आकर अनेक प्रसङ्गोंके आनेपर सहायताकी प्रार्थना करनी पड़ी। शङ्करजी-ऐसे ईश्वर उनके सत्सङ्गको जाते थे। एक अप्सरापर आसक्त होनेपर उसके नामसे जो तेजःपात हुआ उससे उत्पत्ति हुई। धर्मार्थशास्त्ररहित योनिसे जिनकी उत्पत्ति हुई, शापद्वारा जो मर्त्यलोकमें उत्पन्न हुए वे ही कैसे परम तेजस्वी और देवताओं तथा ऋषियोंसे पूज्य हुए? यह सत्सङ्गका प्रभाव है।

कोई-कोई महात्मा अगस्त्यजीके पूर्वजन्मकी कथा इस प्रकार कहते हैं कि किसी समय सप्तर्षियोंके यज्ञमें अग्निदेव साक्षात् प्रकट हुए, तब ऋषियोंकी स्त्रियोंको देख वे काममोहित हो गये। अनुचित समझकर उन्होंने अपने मनको बहुत रोका पर वह वशमें न हुआ। तब वे वनमें चले गये और वहाँ जानेपर मूर्च्छित हो गये। जब सप्तर्षियोंको यह बात मालूम हुई तब उन्होंने अग्निदेवको शाप दिया कि जाकर मर्त्यलोकमें मनुष्य-योनिको प्राप्त हो। वही कुम्भसे अगस्त्यरूपसे प्रकट हुए। परन्तु बहुत खोज करनेपर भी यह कथा हमको अबतक नहीं मिली। केवल इस ढंगकी एक कथा कार्त्तिकेयजन्मप्रसङ्गमें महाभारत वनपर्व अ० २२४—२२६ और स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्डान्तर्गत कौमारखण्ड अ० २९ में मिलती है। परन्तु अग्निको शापका दिया जाना और तदनुसार अगस्त्यरूपसे जन्म होनेकी कथा इन प्रसङ्गोंमें नहीं मिलती।

वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्डमें श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे वह कथा यों कही है कि 'राजा निमिके शापसे वसिष्ठजी देहरहित हुए तब उन्होंने ब्रह्माजीसे जाकर प्रार्थना की कि देहहीनकी संसारी क्रिया नष्ट हो जाती है। *'बिनु तनु बेद भजन नहिं बरना।'* हमको देह दीजिये। तब ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि मित्रावरुणसे जो तेज जायमान है उसमें जाकर तुम निवेश करो, तुम अयोनिज रहोगे। वसिष्ठजीने ऐसा ही किया। एक समयकी बात है कि उर्वशी षोडश शृङ्गार किये हुए मित्रके आश्रमको जा रही थी। वरुण उसे देखकर कामातुर हुए और उससे भोगकी इच्छा प्रकट की। वह बोली कि मैं मित्रसे प्रथम ही स्वीकृत हो चुकी हूँ। वरुण कामातुर हो बोले कि हम अपना तेज इस देवताओंसे निर्मित कुम्भमें तुम्हारे नामसे स्थापित करते हैं, यह सुन उर्वशी प्रसन्न हो बोली कि ऐसा ही हो, हमारा हृदय और भाव आपमें रहेगा और यह शरीर मित्रहीका रहेगा। वरुणने अपने अग्निसमान तेजवाले रेतको कुम्भमें स्थापित किया। इस कुम्भसे पहले अगस्त्यजी उत्पन्न हुए फिर वसिष्ठजी।' कुम्भमें वसिष्ठजीका सत्सङ्ग अगस्त्यजीको हुआ। वह घट कहाँ और कैसे निर्माण हुआ, उसकी कथा यह है कि मित्रावरुणने एक बार यज्ञ किया जिसमें अनेकों देवता, ऋषि-मुनि-सिद्ध एकत्रित हुए थे; सबने मिलकर घट स्थापित किया और उस घटमें अपनी-अपनी शक्तियाँ—तेज या प्रताप स्थापित किया था।

नोट—७ *'बालमीक नारद घटजोनी'* इति। *'घटजोनी'* का अर्थ 'महर्षि अगस्त्यजी' करके ऊपर अगस्त्यजीकी कथा यत्किञ्चित् जो अबतक मालूम हुई वह दी गयी। उन्होंने कथा अपनी किससे कही? इसका उल्लेख नाना पुराण निगमागममेंसे किसमें है, इसका पता मालूम नहीं है। इसी तरह भानुप्रताप आदिकी कथाओंका भी ठीक पता अभीतक नहीं मिला है।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥ ४॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ ५॥

सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥ ६॥

शब्दार्थ—जलचर=जलमें बिचरने या रहनेवाले। थलचर=पृथ्वीपर रहनेवाले। नभचर=आकाशमें विचरनेवाले। 'नभचर' का प्रयोग इतने अर्थोंमें होता है, **'मेघे वाते ग्रहे देवे राक्षसे व्योमचारिणी। विहङ्गमे विद्याधरेऽपि च'। जड़ चेतन=*'जड़ चेतन जग जीव*……'** दोहा ७ में देखिये। **जहान** (फा०)=संसार। **गति**=शुभ गति; मोक्ष; परमपद। **भूति**=वैभव, वृद्धि, सिद्धियाँ। **भलाई**=कल्याण, सौभाग्य, अच्छाई, श्रेष्ठता। **जानब**=जानिये।

अर्थ—जलमें रहनेवाले, पृथ्वीपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले अनेक प्रकारके जड वा चेतन जो भी जीव संसारमें हैं॥ ४॥ (उनमेंसे) जब कभी, जिस किसी यत्नसे, जहाँ कहीं भी जिसने बुद्धि, कीर्त्ति, सद्गति, ऐश्वर्य या भलाई, बड़प्पन पाया है॥ ५॥ वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव जानना चाहिये। लोकमें और वेदोंमें भी (इनकी प्राप्तिका) दूसरा उपाय है ही नहीं॥ ६॥

नोट—१ ***'जलचर थलचर*……*सतसंग प्रभाऊ'*** कहकर जनाया कि श्रीवाल्मीकिजी, नारदजी और अगस्त्यजी तो मनुष्य थे, जो उसी देहमें सत्सङ्गसे सुधर गये। पर सत्सङ्गतिकी महिमा इससे भी अधिक है। उसका प्रभाव पशु, पक्षी एवं अन्य चेतन जीवहीपर नहीं वरञ्च जड पदार्थोंपर भी पड़ता है; वे भी सुधरते आये हैं। ब्रह्माण्डभरमें जो भी सुधरा वह सत्सङ्गसे ही सुधरा। अतएव जिसे भी मति-कीर्त्ति आदिकी चाह हो उसके लिये इनकी प्राप्तिका एकमात्र सुलभ साधन यही है।

टिप्पणी—१ ***'जलचर थलचर*……'** इति। (क) सृष्टिके आदिमें प्रथम जल है, तब थल, फिर नभ, जड और चेतन। उसी क्रमसे यहाँ लिखा गया। (ख) ***'जे जड़ चेतन*……'** अर्थात् ये ही तीन नहीं, वरञ्च जहानभर, जो बना सत्सङ्गसे बना। (यहाँ जड-चेतन 'जलचर थलचर नभचर' तीनोंके विशेषण हैं।)

नोट—२ जल, थल और नभमें रहनेवाले जड, चेतन जिन्होंने **'मति कीर्त्ति**……**'** पायी वे अनेक हैं। कुछके नाम उदाहरणार्थ यहाँ लिखे जाते हैं।

(क) जलचरमें—(१) जड जैसे मैनाकपर्वत। इसे इन्द्रके भयसे बचानेके लिये पवनदेवने समुद्रमें लाकर छिपा दिया था, सो पूर्व पवनदेवके सङ्गसे और फिर समुद्रके सङ्गसे उसे ***'सुमति'*** उपजी कि पवनसुत श्रीहनुमान्‌जीको विश्राम दे।

(२) चेतन जैसे मकरी, ग्राह, राघवमत्स्य और सेतुबन्धन होनेपर समुद्रके समस्त जलचरोंको सुमति उपजी। मकरीको श्रीहनुमान्‌जीके स्पर्श एवं दर्शनसे सुमति उपजी, तब उसने कालनेमिका कपट बता दिया। ***'मुनि न होइ यह निसिचर घोरा'।*** जिससे उसे लोकमें भलाई मिली और दिव्यरूप धर वह देवलोकको गयी, यह सद्गति मिली। 'ग्राह' को गजेन्द्रके सङ्गसे सुमति उपजी कि इसका पैर पकड़नेसे मेरा उद्धार हो जायगा और सद्गति मिली तथा गजेन्द्रके साथ-साथ उसका भी नाम विख्यात हुआ। राघवमत्स्यको, मंजूषामें कौशल्याजीको देख, सुमति उपजी कि इसके पुत्रसे श्रीरामजीका अवतार होगा जिससे रावणादिका नाश होकर जीवोंको सुख होगा, जिससे उसने उन्हें कोशलराजको दे दिया। सेतुके पास श्रीराम-लक्ष्मणजीका दर्शन पानेसे जलचर आपसका वैर भूल गये और सेनाको पार उतारनेको पुल-सरीखा बन गये। यथा, ***'देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा।' 'प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥'......प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे……॥' 'अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं।'*** (६। ४)

(ख) थलचरमें—(१) जड जैसे वृक्ष, वन, पर्वत, तृण आदि। श्रीरामजीका दर्शन पा सुमति उपजी और वे श्रीरामजी तथा उनके भक्तोंके लिये उपकारमें तत्पर हुए तथा उनके सङ्गसे उन्होंने कीर्त्ति पायी। यथा—***'सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥'*** (६। ५) ***'मंगलरूप भयउ बन तव ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते॥'*** (४। १३) ***'धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँजहँ नाथ पाउँ तुम्ह धारा॥'*** (२। १३६) ***'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू।'……'चित्रकूट जस गावहिं तेते॥' 'बिधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रमबिनु बिपुल बड़ाई पाई॥'*** (२। १३७) गुरु अगस्त्यजीके सङ्गका यह फल विन्ध्याचलको मिला। ***'परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परम पद के अधिकारी॥'*** (२। १३९)

(२) चेतन, जैसे शबरी, कोल, किरात, भील, पशु, वानर, विभीषण, शुक आदि। शबरीजीको मतङ्ग ऋषिके सङ्गसे श्रीरामदर्शनकी लालसा, पम्पासरको शुद्ध करनेकी कीर्त्ति और श्रीरामजीके दर्शन तथा योगियोंकी दुर्लभ गति एवं प्रेम-पहुनाईका यश मिला। कोल, किरात, भील, वनवासी जीव श्रीरामजीके सङ्गसे हिंसा व्यापार छोड़ प्रेम करने लगे। यथा—*'करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥'* (२। १३८) *'धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भए तुम्हहिं निहारी॥'* (२। १३६) सुग्रीवजीको श्रीहनुमान्‌जीके सङ्गसे श्रीरामजीके सहायक, सखा, पञ्चम भ्राता इत्यादि होनेकी कीर्त्ति और सद्गति मिली। समस्त वानर, भालुओंको अविचल यश और सद्गति मिली। विभीषण और शुक-सारन निशाचरवंशोद्भव भक्तोंकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। सभीको कीर्त्ति, सद्गति और सुमति मिली।

(ग) नभचरमें—(१) जड, जैसे मेघ, वायु आदि। इन्होंने भक्तराज श्रीभरतजीका दर्शनरूपी सङ्ग पाया। यथा—*'किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मगु भएउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात॥'* (२। २१६) (२) चेतन, जैसे सम्पातीको चन्द्रमा ऋषिके सङ्गसे सुमति उपजी। यथा—*'मुनि एक नाम चंद्रमा ओही।''''''बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा। देहजनित अभिमान छुड़ावा।'* '''''' *'तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता॥'''''' ।'* (४। २८) जिससे उसने वानरोंका उत्साह बढ़ाया, आशीर्वादसे सहायता की, श्रीरामजीके दर्शन, कीर्त्ति और सद्गति पायी। यथा—*'राम हृदय धरि करहु उपाई।'* (४। २९) *'बचन सहाइ करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि।'* (४। २७) इसी तरह भुशुण्डिजीको विप्र और लोमशके सङ्गसे सब कुछ मिला।

नोट—३ **'जड चेतन'** को 'जलचर, थलचर, नभचरके विशेषण मानकर उपर्युक्त भाव एवं उदाहरण दिये गये। मुं० रोशनलालका मत है कि जलचर, थलचर, नभचर, जड और चेतन—ये पाँच हैं, उसी तरह मति, कीरति, गति, भूति और भलाई भी पाँच हैं, अतः इन चौपाइयोंकी एकवाक्यता है। क्रमसे एकके साथ एकको लेकर पहली अर्धाली 'जलचर''''''' का अन्वय अगलीके साथ करनेसे यह अर्थ होता है कि 'जलचरने मति, थलचरने कीर्त्ति, नभचरने गति, जड़ने भूति और चेतनने भलाई पायी।' राघवमत्स्यको सुमति उपजी, गजेन्द्रको कीर्त्ति मिली। उसका गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र प्रसिद्ध है, जटायुको सद्गति मिली, जड अहल्या अपने पतिकी विभूतिको प्राप्त हुई और श्रीसुग्रीव, श्रीहनुमान्‌जी आदि वानरोंको इतनी भलाई प्राप्त हुई कि भगवान्‌ने अपनेको उनका ऋणी माना। इस तरह 'यथासंख्या क्रमालङ्कार' है। [गजेन्द्र पूर्व जन्ममें इन्द्रद्युम्न नामक राजा था। अगस्त्यजीके शापसे गजेन्द्र हुआ, हरिके दर्शन-स्पर्शसे उसका अज्ञान दूर हुआ और मुक्ति पायी। **'गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।'** (भा० ८। ४।६) जटायु पूर्व दशरथमहाराजका सखा था। शनैश्चरके युद्धमें जटायुजीने श्रीदशरथमहाराजकी सहायता की थी। पूर्व सङ्गके प्रभावसे तथा श्रीसीतारामजीके दर्शन-सङ्गके प्रभावसे उसमें श्रीसीताजीकी रक्षा करनेकी बुद्धि हुई और अपूर्व अलौकिक गति पायी।] किसीने इसपर यह दोहा कहा है *'जलचर थलचर ग्राह गज नभचर कहे जटायु। जड़ मुनितिय चेतन कही एक बिभीषण राउ॥'*

टिप्पणी—२ ऊपर यह दिखा आये कि सबोंने 'मति, कीर्त्ति, गति, भूति, भलाई' सत्सङ्गसे पायी। मति, कीर्त्ति, गतिका क्रम भी साभिप्राय है। सत्सङ्गमें विवेककी प्राप्ति मुख्य है। यथा—*'बिनु सतसंग बिबेक न होई'* यही बात आगे कहते हैं। विवेक बुद्धिमें होता है। इसीसे प्रथम 'मति' का होना कहा, पीछे कीर्त्तिका और तब गतिका होना कहा।

टिप्पणी—३ इस चौपाईका जोड़ सुन्दरकाण्डमें है। यथा—*'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना॥'* *'सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि के चंद कि नाईं॥'* (५। ३८) दोनों जगह एक ही पाँच वस्तुओंका वर्णन हुआ है।

मति, कीरति, गति, भूति, भलाई।	'जलचर थलचर' से 'जहाना' तक।
सुमति, सुजस, सुभगति, सुख, कल्यान।	जो चाहइ।

उपर्युक्त मिलानसे स्पष्ट है कि वहाँ *'जो चाहइ'* जो कहा है, उसीको यहाँ *'जलचर'''''' जहाना'* कहा

है और जो वहाँ सुयश, सुमति आदि कहा है वहीं यहाँ मति, कीर्त्ति आदि कहा है। भूति=सुख। भलाई=कल्याण। *'जो चाहइ'* से सूचित करते हैं कि प्रत्येक जीवको ये पाँचों पदार्थ सत्सङ्गसे प्राप्त हो सकते हैं। यह बात इस काण्डमें सन्त-सङ्गके प्रसङ्गमें दिखायी। और कामी रावणके प्रसङ्गमें इन्हीं पाँचोंका *'परनारि लिलार'* के सङ्गसे नष्ट होना दिखाया है। कामी पुरुषकी मति, कीर्त्ति आदि सबका नाश हो जाता है। मतिका नाश, यथा—*'बुधि बल सील सत्य सब मीना। बंसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना।।'* (३। ४४) कीर्त्तिका नाश, यथा—*'अकलंकता कि कामी लहई।'* (१। २ ६७) *'कामी पुनि कि रहहिं अकलंका।'* (७। ११२) गतिका नाश, यथा—*'सुभगति पाव कि पर त्रिय गामी।'* (७। ११२) भूतिका नाश, यथा—*'धरम सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा।।'* (३। ४४) भलाईका नाश, यथा—*'अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि॥'* (३। ४४) सारांश यह कि सुमति, कीर्त्ति आदिका कुसङ्गसे नष्ट होना कहकर उन्हींका सुसङ्गसे प्राप्त होना सूचित किया है।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥७॥
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥८॥

अर्थ—बिना सत्सङ्गके विवेक नहीं होता और वह (सत्सङ्ग) श्रीरामजीकी कृपाके बिना सहजमें प्राप्त नहीं होता॥ ७॥ सत्सङ्गति आनन्द-मङ्गलकी जड़ है। उसकी सिद्धि (प्राप्ति) फल है [वा, वही (सत्सङ्गति ही) सिद्धिरूप फल है। (मा० प्र०)]* और सब साधन फूल हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ यदि कोई कहे कि 'जब सत्सङ्गसे 'मति, कीर्त्ति आदि सब मिलती हैं तो सब सत्सङ्ग क्यों नहीं करते?' तो उसका उत्तर देते हैं कि *'रामकृपा०'*। अर्थात् श्रीरामकृपा ही सत्सङ्गका साधन है, नहीं तो सभी कर लें। यथा—*'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।'* (विनय० १३६) *'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता'* (सुं० ७) *'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। रामकृपा करि चितवहिं जेही॥'* (७। ६९) *'सतसंगति दुरलभ संसारा...निज जन जानि राम मोहिं संतसमागम दीन॥'* (उ० १२३) (रा० प्र०)।

टिप्पणी—२ पहले कहा कि *'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा'* (२। १२) अब कहते हैं कि *'रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।'* प्रथम कहा कि *'मति कीरति'* सब सत्सङ्गसे होते हैं, अन्य उपायसे नहीं; और अब कहते हैं कि ये सब ज्ञानसे भी होते हैं। भाव यह है कि रामकृपासे सत्सङ्ग, सत्सङ्गसे विवेक और विवेकसे गति है। यथा—*'बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावइ कोई।'*

नोट—१ यदि कोई कहे कि मोक्षके लिये तो वेदोंमें विवेकका होना आवश्यक कहा है तो उसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि मोक्षका कारण जो विवेक है, वह सत्सङ्ग बिना नहीं हो सकता। *'रामकृपा बिनु०'* का भाव यह कि भगवत्कृपा बिना सज्जनोंके वाक्योंमें रुचि और विश्वास नहीं होता। (पं०) भाव यह कि 'नाना साधनोंके और फल मिलते हैं, सत्सङ्गति-लाभ केवल राम-अनुग्रहहीके अधीन है।'

अलङ्कार—सत्सङ्ग कारण, विवेक कार्य और फिर सत्सङ्ग कार्य और रामकृपा उसका कारण कहा गया। अतः 'द्वितीय कारणमाला अलङ्कार' हुआ। यथा— *'कारजको कारण जु सो कारज ह्वै जाय। कारणमाला ताहिको कहैं सकल कविराय।।'* (अ० मं०)

नोट—१ जब 'सिद्धि' का अर्थ 'प्राप्ति' लेते हैं तब *'सोइ फल सिधि⋯फूला'* का भाव यह है कि 'मुदमङ्गलरूपी वृक्षमें जब जप-तप, विप्रपदपूजा आदि अनेक साधनरूपी फूल लगते हैं तब सत्सङ्ग-प्राप्तिरूपी फल मिलता है।' अर्थात् जन्म पाकर यदि सत्सङ्ग न मिला तो जन्म व्यर्थ गया। इसीसे ग्रन्थकारने सिद्धिको फल कहा और साधनको फूल। (पं० सू० प्र० मिश्र)

---

* अर्थान्तर—३—'वही सत्सङ्गति सब सिद्धिका फल है' (नंगे परमहंसजी)। ४— 'वही सिद्धि फल है (अर्थात् सिद्ध-अवस्थाका सत्सङ्ग फलरूप है। वै०। वीरकवि। मा० म०)। ५—(यावत् भगवत्सम्बन्धी) सिद्धियाँ (हैं) वही फल हैं। (बाबा हरिदासजी)

मानस और विनयमें गोस्वामीजीने 'सत्सङ्ग' शब्दसे क्या भाव सूचित किया है, यह उनके उद्धरणोंसे ही जाना जा सकता है। अतएव कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। (क) वे विनयमें प्रार्थना करते हैं *'देहि सतसंग निज-अंग श्रीरंग! भवभंग-कारण शरण-शोकहारी। ये तु भवदंघ्रिपल्लव-समाश्रित सदा, भक्तिरत, बिगतसंशय मुरारी।।'* (५७) इसके अन्तमें कहते हैं *'यत्र कुत्रापि मम जन्म निजकर्मवश भ्रमत जगजोनि संकट अनेकं। तत्र त्वद्भक्ति, सज्जन-समागम, सदा भवतु मे राम विश्राममेकं॥'''''* *'संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं, किमपि मति मलिन कह दासतुलसी॥'* इससे 'सत्सङ्ग' का अर्थ 'सन्तों-सज्जनोंका संग वा समागम' स्वयं कविने कर दिया है।

(ख)—विनय० १३६ में कहते हैं*'बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवैं जब सोई॥'* *'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये। जेहि दरस-परस-समागमादिक, पापरासि नसाइये॥'* *'जिनके मिले दुख-सुख समान, अमानतादिक गुन भये ''''''''।'* यहाँ भी 'सत्सङ्ग' से सन्तोंका सङ्ग, उनका दर्शन, स्पर्श और समागम ही बताया।

(ग)—मानसमें श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन और स्पर्श आदि होनेपर लङ्किनीने कहा है—*'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग।।'* इसके पश्चात् उत्तरकाण्डमें जब श्रीसनकादिजी भगवान् श्रीरामजीके दर्शनार्थ उपवनमें आये हैं, उस समय भगवान् कहते हैं—*'आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा॥'* *'बड़े भाग पाइअ सतसंगा। बिनहि प्रयास होइ भवभंगा॥'* *'संतसंग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।'* यहाँ ऋषियोंके दर्शनमात्रको ही 'सत्सङ्ग' कहा है, आगे चलकर गरुड़जीको मोह होनेपर जब उन्हें नारदजी, ब्रह्माजीके और उन्होंने शङ्करजीके पास भेजा तब श्रीशिवजी कहते हैं—*'मिलेहु गरुड़ मारग महं मोही। कवनि भांति समुझावौं तोही।।'* *'तबहिं होइ सब संशय भंगा। जब बहु काल करिय सतसंगा।।'* *'सुनिय तहाँ हरिकथा सुहाई।'* *'''''''''बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।'* यहाँ 'सत्सङ्ग' का अर्थ सन्तोंका साथ, उनके साथ रहकर हरिकथा आदि श्रवण करना। गरुड़जीको देवर्षि नारद-जैसे सन्तका तथा ब्रह्माजी और शङ्करजीका दर्शन हुआ, पर दर्शनमात्रसे क्लेश न गया। हाँ, इन्होंने मार्ग बताया और उससे मोह छूट गया। भुशुण्डिजीके आश्रमके दर्शनसे मोह दूर हो गया। बहुत कालके समागमके अन्तमें. भुशुण्डिजी कहते हैं—*'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा।'''''''''* *'पूछेहु रामकथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि॥'* *'सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥'''''* *'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि मोहि प्रभु संत समागम दीन्ह॥'* इससे श्रीरामकथा आदिकी चर्चा सन्त-मिलन होनेपर होनेको 'सत्सङ्गति' कहा है। क्योंकि संवादके अन्तमें *'आजु'* और *'सन्तसमागम'* शब्द कहे गये हैं। यहाँ गरुड़जीका समागम सन्तसमागम कहा गया और गरुड़जी भुशुण्डिजीको सन्त कहते हैं। गरुड़जीके चले जानेके बाद श्रीशिवजी कहते हैं *'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।।'* अर्थात् सन्त-मिलन और उनके दर्शन, कथा-वार्ता आदिका उनसे श्रवण इत्यादि 'समागम' है। यही अर्थ श्रीयाज्ञवल्क्यजीके शब्दोंसे सिद्ध होता है। वे श्रीशिवचरितकथनके पश्चात् कहते हैं *'सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे।।'* स्मरण रहे कि सन्त जिनका दर्शनमात्र सत्सङ्ग कहा गया है, वे श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभुशुण्डिजी-सरीखे सन्त हैं, जिनमें वे लक्षण हों, जो मानसमें कहे गये हैं। सन्त-भगवन्तमें भेद नहीं है। सन्त बिना भगवत्कृपाके नहीं मिलते और भगवान् बिना सन्तकृपाके नहीं मिलते।

☞सत्सङ्गकी सिद्धावस्थाका फल भी सत्सङ्ग है; इसीलिये तो भक्त सदा सन्तसमागम चाहते हैं। यथा—*'यत्र कुत्रापि मम जन्म निजकर्मवश भ्रमत जगजोनि संकट अनेकं। तत्र त्वद्भक्ति, सज्जन-समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकं।'* (विनय० ५७) *'बार बार बर मांगउ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सत्संग।।'* (७।१४)

टिप्पणी—३ इस प्रसङ्गमें *'मुदमंगल'* पद तीन बार दिया गया है। यथा, *'मुदमंगलमय*

संतसमाजू' (२ । ७) *'सुनत सकल मुदमंगल देनी'* (२। १०) और *'सतसंगति मुदमंगलमूला'* (३। ८) ऐसा करके सन्तोंके सम्बन्धमें तीन बातें सूचित की हैं। सन्त मुदमङ्गलके स्वरूप हैं। सुननेवालेको मङ्गलमोद देते हैं और सन्तका सङ्ग मुदमङ्गलका मूलक अर्थात् उत्पन्न करनेवाला है।

नोट—२ बाबा जानकीदासजी *'बिनु सतसंग बिबेक न होई'* का अर्थ यह करते हैं कि 'बिना सत्सङ्ग (उपर्युक्त बातका) विवेक नहीं होता।' अर्थात् जो ऊपर कहा है कि मति-कीर्त्ति आदि पाँचों सत्सङ्गके प्रभावसे मिलते हैं यह ज्ञान (इसका जानना) भी सत्सङ्गसे ही होता है। अर्थात् सत्सङ्गका प्रभाव सत्सङ्गसे ही जाना जाता है।

नोट—३ *'सतसंगत मुद मंगल मूला।'''''* इति। (क) 'मूल' कहनेका भाव यह है कि सत्सङ्ग जड़ है, मुदमङ्गल वृक्ष है। जैसे बिना जड़के वृक्ष नहीं रह सकता, वैसे ही बिना सत्सङ्गके मुदमङ्गल नहीं रह सकते। वृक्षमें फूल और फल होते हैं। यहाँ सब साधन फूल हैं और साधनोंसे जो सत्सङ्ग प्राप्त हुआ वही फल है। (ख) यहाँ मूल और फल दोनोंको एक ही बताकर दिखाया कि मूल और फलका सम्बन्ध है। यही जड़ है और यही फल है। देखिये, परिपक्व फल (बीज) पृथ्वीमें बोया जाता है। तब वह जड़रूपमें परिणत हो जाता है। उसीसे फिर वृक्ष, फूल और फल होते हैं। फल जब परिपक्व हो जाता है तब वही बीज होता है। (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ सत्सङ्गको दो कार्योंका मूल कहा। एक तो विवेकका, दूसरे मुदमङ्गलका। *'मूला'* शब्दसे 'विवेक' और 'मुद मंगल' दोनोंको वृक्षरूप बताया। विवेकरूपी वृक्षके सर्वाङ्ग ये हैं। सिद्ध-अवस्थाका सत्सङ्ग फलरूप है जो भूमिमें बोये जानेसे मूल होकर सब वृक्ष हो जाता है। यहाँ *'सुमति'* भूमि है। सत्सङ्ग उपदेश बीज मूल अङ्कुर है। शम-दम दोनों दल हैं। श्रद्धा फुनगी है। उपराम, तितिक्षा बढ़ना है। समाधान हरियाली है। विवेक वृक्ष है, वैराग्य उसकी सेवा (शाखा) है। मुमुक्षा फूल है, ज्ञान फल है। सत्सङ्ग बीज है।

नोट—४ (क) ग्रन्थमें सत्सङ्गके दो साधन बताये गये हैं। एक तो यहाँ 'रामकृपा' बताया गया। अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है, जैसा टिप्पणी १ में लिखा गया है। दूसरा साधन उत्तरकाण्डमें विप्रपदपूजासे उत्पन्न पुण्यपुञ्ज। यथा—*'पुण्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥' 'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥'* (७। ४५) (ख) *'सतसंगत मुद मंगल मूला।''* सब साधनोंको फूल कहा है। 'सब' से जनाया कि साधन अनेक हैं जैसे फूल अनेक। बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि जप, तप आदि सब साधन फूल हैं। फूलसे फल होता है। परिपक्व फल ही पुनः बीज होता है। अतः *'सोइ फल सिधि'* कहा। (ग) किसी-किसीका कहना है कि 'रामकृपा' का सम्बन्ध 'विवेक'-वाले सत्सङ्गसे है अर्थात् रामकृपा जिसका साधन है उस सत्सङ्गका कार्य विवेक है और अन्य (पुण्यपुञ्ज आदि) साधनोंसे जो सत्सङ्ग होता है उसका कार्य मुदमङ्गल है। कोई इसीको इस प्रकार कहते हैं कि सत्सङ्ग दो प्रकारका है, एक कृपासाध्य, दूसरा साधनसाध्य। 'कृपासाध्यका सदसद्विवेक फल है और साधनसाध्यका मुदमङ्गल फल है।

इसपर शङ्का होती है कि 'क्या श्रीरामकृपा बिना केवल साधनसे सत्सङ्गकी प्राप्ति हो सकती है? यदि हो सकती है तो फिर मनुष्यको श्रीरामकृपाकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अतः यही कहना होता है कि विप्रपदपूजाद्वारा जो सत्सङ्ग प्राप्त होता है उसके लिये भी कृपा आवश्यक है। श्रीरामकृपा स्वतन्त्र ही बिना साधन कराये भी सत्सङ्ग दे सकती है, जैसे विभीषणजीको। और चाहे साधन कराके दे, पर सत्सङ्ग प्राप्त करानेवाली रामकृपा ही है। दूसरा प्रश्न यह होता है कि 'क्या साधनद्वारा जो सत्सङ्ग होगा उससे सदसद्विवेक न होगा?' मेरी समझमें गोस्वामीजीका तात्पर्य यह नहीं है कि एक सत्सङ्गसे विवेक होगा, दूसरेसे नहीं। तीसरी शङ्का यह होती है कि क्या रामकृपासे विवेक ही होगा, मुदमङ्गल न होगा?

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस[1] कुधात सुहाई॥ ९ ॥
बिधिबस सुजन कुसंगत परहीं। फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं॥ १०॥

१-परसि—छ०, १७०४। परस—१६६१, १७२१, १७६२।

शब्दार्थ—**सठ** (शठ)-मूर्ख; जडबुद्धिवाले; लुच्चे। **पारस**=एक पत्थर जिसके विषयमें प्रसिद्ध है कि यदि लोहा उसमें छुलाया जाय तो सोना हो जाता है। **परस** (स्पर्श)-छूना। **कुधात** (कुधातु)-बुरी धातु।=लोहा। **सुहाई**=सुहावनी, अच्छी वा शोभित हो जाती है। **बिधि**=दैव। **बिधिबस**=दैवयोगसे। **फनि** (फणि)=सर्प। **अनुसरना**-पीछे वा साथ-साथ चलना; अनुकूल आचरण करना; (के) अनुसार चलना, बरतना, अनुसरण करना।

अर्थ—शठलोग सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं (जैसे) पारसके स्पर्शसे लोहा शोभित हो जाता है। (सुन्दर सोना बन जाता है)॥ ९॥ दैवयोगसे (यदि कभी) सज्जन कुसङ्गतमें पड़ जाते हैं (तो वे वहाँ भी) साँपके मणिके समान अपने गुणोंका ही अनुसरण करते हैं॥ १०॥

नोट—१ '*सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।*''''' ' इति। (क) 'सत्सङ्गको सिद्ध फल कहा। अब उसका प्रमाण देते हैं कि साधनहीन केवल सङ्गमात्रसे सिद्धता होती है।' (वै०) (ख) '*सुधरहिं*' का भाव यह है कि उनकी महिमा बढ़ जाती है। इस लोकमें शोभा होती है और परलोकमें गति मिलती है। (पं०) (ग) '*पारस परस*—' इति। चाँदी, सोना, ताँबा, पीतल, लोहा आदि सब 'धातु' हैं। इनमें लोहा सबसे कुत्सित और सोना उत्तम समझा जाता है। इसीलिये शठको कुधातुकी उपमा दी। भाव यह है कि जैसे पारसके स्पर्शमात्रसे निकृष्ट धातु उत्तम धातु हो जाती है, वैसे ही सत्सङ्गकी प्राप्तिमात्रसे, सत्सङ्गके प्रारम्भ होते ही शठ सुधरकर सुन्दर हो जाते हैं। सत्सङ्ग पूरा होनेपर तो वह पारस ही हो जाता है, दूसरोंको सोना बना देता है। जैसे पारस लोहेको सोना बनाता है, वैसे ही सन्त शठको सज्जन बना देते हैं। (घ) '*सुहाई*' से जनाया कि रूप सुन्दर हो जाता है और मूल्य भी बहुत बढ़ जाता है। इसी तरह शठका आचरण सुन्दर हो जाता है और उसका सर्वत्र मान होने लगता है। वह पवित्र हो जाता है।

स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड अ० १५ में इस विषयपर बहुत सुन्दर लिखा है। यथा— '**यथा चिन्तामणिं स्पृष्ट्वा लोहं काञ्चनतां व्रजेत्। यथा जम्बूनदीं प्राप्य मृत्तिका स्वर्णतां व्रजेत्॥' यथा मानसमभेत्य वायसा यान्ति हंसताम्। यथामृतं सकृत्पीत्वा नरो देवत्वमाप्नुयात्॥' तथैव हि महात्मानो दर्शनादिभिः''''''। सद्यः पुनन्त्यघोपेतान्सत्सङ्गो दुर्लभो ह्यतः।**' (१२—१४) अर्थात् जैसे चिन्तामणिके स्पर्शसे लोहा और जम्बूनदीमें पड़नेसे मिट्टी सोना हो जाती है, जैसे मानसरोवरमें रहनेसे कौवा हंस हो जाता है और एक बार अमृत पीनेसे मनुष्य देवत्वको प्राप्त हो जाता है वैसे ही महात्मा दर्शन-स्पर्शन आदिसे पापियोंको तत्काल पवित्र कर देते हैं। अतः सत्सङ्ग दुर्लभ है। ये श्लोक इस प्रसङ्गकी जोड़के हैं। यह सभी भाव चौपाइयोंमें हैं।

नोट—२ '*सठ सुधरहिं सतसंगति पाई*' यह उपमेयवाक्य है और '*पारस परस कुधात सुहाई*' उपमानवाक्य है। बिना वाचकपदके दोनों वाक्योंमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव झलकता है। अतः यहाँ 'दृष्टान्त अलङ्कार' है। मा० मा० कारका मत है कि यहाँ 'अनुगुण' अलङ्कार है। वे भाषाभूषणका प्रमाण देते हैं। '*अनुगुण संगति ते जबै पूरण गुण सरसात। मुक्तमाल हिय हास्य ते अधिक सेत है जात॥*' पर औरोंके मतसे यहाँ 'अनुगुण' नहीं है क्योंकि अनुगुणका लक्षण है 'अपने पूर्व गुणका दूसरेके सङ्गसे और अधिक बढ़ना।' यहाँ 'उल्लास' है क्योंकि और वस्तु पारस (सन्त-सङ्ग) के गुणसे और वस्तु कुधातु (शठ) गुणवान् हुई है। संसर्गसम्बन्धसे यहाँ सत्सङ्गतिका गुण दूसरेमें वर्णन किया गया है। (अ० मं०। वीरकवि)

नोट—३ सन्त और पारसमें तो बहुत अन्तर है। यथा—'*पारस सन्तहु महँ बहु अन्तर जान। वह लोहा सोना करै यह कर आप समान॥*' तो फिर पारसकी उपमा क्यों दी गयी? यह शङ्का उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने यह दिया है—(१) जो शठ नहीं हैं, उनको तो अपने समान कर लेते हैं और शठको अति नीचसे अति उत्तम बना देते हैं। (२) सत्सङ्गमें किञ्चित् भी कपट हुआ तो सुधार न होगा, जैसे लोहे और पारसके बीचमें महीन कागज वा कपड़ा भी हुआ तो सोना न होगा। यही भाव वैराग्यसन्दीपिनी दोहा १८ में दर्शित किया गया है। यथा—'*निज संगी निज सम करत दुर्जन को सुख दून। मलयाचल*

हैं संत जन तुलसी दोष बिहून॥' (३) अभी *'मज्जन फल पेखिय ततकाला'* का प्रसङ्ग चल रहा है, इसीसे पारस-लोहेका दृष्टान्त दिया, क्योंकि पारसके स्पर्शमात्रसे लोहा स्वर्ण हो जाता है।

नोट—४ शठ सन्तका सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं यह सुनकर सन्देह हो सकता है कि इसी प्रकार सज्जन कुसङ्ग पाकर बिगड़ जाते होंगे। यथा—*'संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।'* (७। ३३) इसपर कहते हैं *'बिधि बस……।'*

टिप्पणी—१ *'बिधिबस सुजन……'* इति। (क) *'बिधिबस'* का भाव यह है कि सज्जन अपने वशभर तो कुसङ्गतिमें पड़ते ही नहीं, परन्तु प्रारब्ध प्रबल है। यदि शठके यहाँ उनका अवतार हुआ या उनसे सम्बन्ध हो गया, जैसे मणिकी उत्पत्ति सर्पके यहाँ हुई; इस तरह यदि वे कुसङ्गमें भी पड़ जाते हैं—। (ख) *'परहीं'* से सूचित किया कि जन्मभर भी पड़े रह जाते हैं, जैसे मणि सर्पमें जीवनपर्यन्त रहती है, तो भी वे नहीं बिगड़ते। जैसे, श्रीप्रह्लादजी और श्रीविभीषणजी। पुनः, इससे यह भी जनाया कि यद्यपि विधिवशसे उनकी सङ्गतिमें पड़ते हैं तथापि उनकी सङ्गति नहीं करते। (ग) *'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं'* इति। भाव यह कि मणि सर्पके मस्तकमें रहती है और विष भी। पर मणिमें विषका मारक गुण नहीं आने पाता। सर्पका संसर्ग पाकर भी मणि उसके विषको ग्रहण नहीं करती। प्रत्युत मणि विषको मारती है। वैसे ही सन्त यदि दुष्टोंके बीचमें पड़ जाते हैं तो भी दुष्टोंकी दुष्टता उनमें नहीं आने पाती, दुष्टोंके सङ्गका प्रभाव उनपर नहीं पड़ता। [पुनः, जैसे मणि अपने सहज गुण प्रकाशको नहीं छोड़ती वैसे ही सज्जन दुष्टोंके साथ रहनेपर भी दुष्टोंको प्रकाश ही देते हैं। पुनः, मणि अपना अमृतत्वगुण नहीं छोड़ती, सर्पके विषको वह मारती है। वैसे ही जिनपर दुष्टोंका प्रभाव पड़ गया उनको वे सज्जन सुधार देते हैं।] (घ) पारस और लोहेका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि दूसरोंको बना देते हैं, जैसे पारस लोहेको स्पर्श करते ही स्वर्ण बना देता है। और मणिका दृष्टान्त देकर जनाया कि आप नहीं बिगड़ते। यथा—*'अहि अघ अवगुन नहि मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥'* (२। १८४) (ङ) कुसङ्गका दोष न ग्रहणकर अपने ही गुणोंका अनुकरण करना 'अतद्‌गुण' अलङ्कार है। यथा, *'रहे आन के संगहू गुन न आन को होय।'* (वीरकवि)

बिधि-हरि-हर कबि कोबिद बानी। कहत साधुमहिमा सकुचानी॥ ११॥
सो मो[1] सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि-गुनगन[2] जैसे॥ १२॥

शब्दार्थ—**कबि**=काव्य करनेवाला। विधि हरिहर आदिके साहचर्यसे यहाँ 'कवि' से उशना शुक्राचार्य आदि अभिप्रेत हैं। यथा— **'कवीनामुशना कविः।'** (गीता १०। ३७) **'कबि'** का अर्थ **'शुक्राचार्य'** कोशोंमें भी मिलता है। बैजनाथजी **'कबि'** से **'अनन्त'** आदिका अर्थ करते हैं। **कोबिद**=पण्डित, विद्वान्; जैसे बृहस्पति आदि। **बानी** (वाणी)—सरस्वती।=वाक्‌शक्ति। **कैसे**=किस प्रकार, किस तरह। **साक** (शाक)=साग, भाजी, तरकारी, पत्ती, फूल, फल आदि जो पकाकर खाये जाते हैं सब 'साक' कहलाते हैं। **'शाकाख्यं पत्रपुष्पादि।'** (अमरकोश)।=काँचकी पोत। (विश्वकोश। वै०; मा० प्र०) **बनिक** (वणिक)=बनिया; व्यापार करनेवाला। **साक बनिक**=साग-भाजीका बेचनेवाला कुँजड़ा।=पोत बेंचनेवाला।

अर्थ—श्रीब्रह्मा, विष्णु, महेश (त्रिदेव), (शुक्राचार्य आदि) कवि, (देवगुरु बृहस्पति आदि) विद्वान् पण्डितोंकी वाणी (भी)[3] साधुमहिमा कहनेमें सकुचा गयी॥ ११॥ वह (साधुमहिमा) मुझसे किस प्रकार नहीं कही जाती, जैसे साग-भाजी बेचनेवाले कुँजड़े या पोतके बेचनेवालेसे मणिके गुणसमूह नहीं कहे जा सकते॥ १२॥

१. मोहि सन—रा० प०, १७०४।

२. गन गुन—१७०४, १७२१, १७६२, छ० को० राम। गुन गन—१६६१ (गन गुन पहले था। गुनके (़) पर हरताल लगाकर 'गुन गन' पाठ बनाया गया है।

३. 'सकुचानी' स्त्रीलिङ्ग है; इसीसे ऐसा अर्थ किया जाता है। पुनः यों भी अर्थ हो सकता है कि 'विधि हरिहर, कवि,

टिप्पणी १—*'बिधि हरि····· सकुचानी'* इति। (१) पं० सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि *'सकुचानी'* का रहस्य पं० परमेश्वरीदत्त व्यासजीने यों कहा था कि किसी दिन स्वर्गमें देवताओंकी एक सभा हुई और उसमें सब देवता इकट्ठे हुए, तब साधु-महिमा कहनेकी वरणी ब्रह्माकी हुई। कहते-कहते बहुत दिन बीत गये तब तो सरस्वती उदास हो बोलीं, 'मेरे पति कबतक कहते रहेंगे अब यह वरणी महादेवजीको देनी चाहिये, क्योंकि ये पाँच मुखवाले हैं।' फिर तो महादेवजी प्रसन्न हो कहने लगे। निदान देवताओंने देखा कि बहुत दिन हो गये और अन्त न हुआ तब तो कार्त्तिकेयजीको वरणी दी गयी। इन्होंने बहुत कुछ कहा और अन्त न हुआ तब तो पार्वतीजी बोल उठीं, देखो! देवता बड़े स्वार्थी होते हैं, मेरा बालक कबतक कहता रहेगा, बहुत दिन बीत गये, अब नहीं कहेगा। तब तो देवताओंने मिलकर वह वरणी शेषनागको दी क्योंकि इनको सहस्र मुख और दो सहस्र जिह्वा हैं! ये बहुत जल्द साधु-महिमा कह लेंगे। इनको भी कहते-कहते कई कल्प बीत गये तब तो ये हार मानकर लाचार हो पाताल-लोकमें जा माथा झुकाकर बैठ गये, सो उसी लज्जाके कारण आजतक बैठे ही हैं। प्रमाण— **'सहस्रास्यः शेषः प्रभुरपि ह्रिया क्षितितलमगात्'** (स्कन्दपुराण) सो ग्रन्थकारने *'सकुचानी'* पद लिखा तो क्या?'

(२) क्यों सकुचती है? इसके सम्बन्धमें अनेक समाधान किये जाते हैं—(क) 'सकुच, इससे कि इतने बड़े-बड़ोंकी वाणी होकर भी न कह सके, आश्चर्य ही तो है'। (पं० रा० कु०) (ख) 'भगवद्-भक्त ही सच्चे साधु हैं। भगवद्भक्तके अधीन सेवकके सदृश विष्णु रहते हैं·····। इसलिये जिस साधुकी सेवा स्वयं विष्णु करते हैं उसकी महिमा कौन कह सकता है? (द्विवेदीजी) (ग) ब्रह्माजी रजोगुणके वश हो सृष्टिरचनाकी चिन्तामें, शिवजी तमोगुणवश संहारकी चिन्तामें और हरि सतोगुणके वश खलोंके नाश और भक्तोंकी रक्षामें मग्न रहते हैं, सन्त-महिमाकी ओर ध्यान देने तथा कहनेका अवकाश नहीं है। (मा० म०) (घ) त्रिदेव त्रैगुणाभिमानमें, कवि मानवश उपमानमें, कोविद क्रिया-कर्म-कर्त्ताके फेरमें पड़े हैं, इससे उनकी वाणी शुद्ध नहीं, फिर सन्तोंके विमल गुण कैसे कह सकें? गोस्वामीजीने वैराग्यसन्दीपनीमें भी कहा है कि *'क्यों बरनै मुख एक तुलसी महिमा संतकी। जिन्हके बिमल बिबेक सेष महेस न कहि सकत॥'* (३४)

यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है, क्योंकि विधिहरिहर इत्यादि योग्य वक्ताओंको अयोग्य ठहराकर अतिशय बड़ाई कर रहे हैं। *'सो मो सन कहि जात'* ····· जैसे' में 'उदाहरण अलङ्कार' है क्योंकि पहले साधारण बात कहकर उसकी विशेष बातसे समता वाचकपदद्वारा दिखायी गयी है।

नोट—१ *'साक बनिक मनि गुनगन जैसे'* इति। भाव यह कि ईश्वरकोटिवाले सन्तरूपी मणिके जौहरी हैं, जब ऐसे बड़े-बड़े जौहरी ही इस रत्नके परखनेमें अशक्तिमान् हैं तो उनकी महिमा कुँजड़ा वा पोत बेंचनेवाला कैसे कह सकेगा? गोस्वामीजी अपनी समता कुँजड़ेसे देते हैं।

नोट—२ पं० सूर्यप्रसाद मिश्र लिखते हैं कि 'गोसाईंजी अपना अभिमान दूर करते हैं।····· अहंकार पापका मूल है और अमङ्गलकारी है, अतएव ग्रन्थकारने उसका त्याग किया। इससे सिद्ध होता है कि ये सब कुछ करेंगे।··········*'साकबनिक'* पद देनेसे यह भी जाना जाता है कि जैसे जवाहिरका चाहनेवाला शाकके बाजारमें जाकर पूछे कि आजकल जवाहिरका भाव क्या है तो उसको जवाहिरका भाव शाकबाजारसे कभी न मालूम होगा। उसको तभी मालूम होगा जब वह जौहरी-बाजारमें जायगा। ····· गोसाईंजीने अपनेको साधुसमाजके सामने तुच्छ और अत्यन्त दीन दिखाया है।···'

कोविद और सरस्वतीजी साधुमहिमा कहनेमें सकुचा गयीं'। यहाँ 'बानी' अन्तिम शब्द है, इसीलिये इसके अनुसार स्त्रीलिङ्ग क्रिया भी दी गयी। पुनः, तीसरी प्रकार इस तरह भी भावार्थ निकलता है कि विधिहरिहर कवि कोविदवाणी (सब मिलकर भी) साधुमहिमा कहनेमें सकुचाते हैं। सब मिलकर भी सन्तोंका महत्त्व नहीं कह सकते। महारामायणमें शिवजीका वाक्य है कि 'अहं विधाता गरुडध्वजश्च रामस्य बाले समुपासकानाम्। गुणाननन्तान् कथितुं न शक्तास्सर्वेषु भूतेष्वपि पावनास्ते॥' इसीके अनुसार यहाँ भाव है कि सन्तोंके गुण अनन्त हैं, उन्हें सारे जीव एवं ब्रह्मादि ईश्वर-कोटिवाले सब मिलकर भी नहीं कह सकते।

दो०—बंदौं संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ[१]।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ॥
संत सरलचित जगतहित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल बिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु॥ ३॥

शब्दार्थ—**समान चित**=सबके लिये एकही-सा चित्त है जिनका, शत्रु-मित्र सबको चित्तमें समान माननेवाले। यथा—'*सत्रु न काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि। तुलसी यह मत संतको बोलै समता माहि॥*' (वै० सं० १३)।=रागद्वेषरहित। **हित**=मित्र। **अनहित**=शत्रु। **अंजलि**=दोनों हाथोंकी हथेली एक ओर जोड़नेसे 'अंजलि' कही जाती है।=अँजुरी। **गत**=(में) प्राप्त। **सुभ**=शुभ और सुगन्धित। **सुमन**=फूल। **सम**=बराबर। **कर**=हाथ। **कर**=करता है। **सरल**=सीधा-सादा, निश्छल। यथा—'*सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।*' **रति**=प्रीति, प्रेम।

अर्थ—मैं सन्तोंको प्रणाम करता हूँ जिनका चित्त समान है (अर्थात् जिनके चित्तमें समताभाव है), जिनका न कोई मित्र है न शत्रु। जैसे अञ्जलिमें प्राप्त सुन्दर (सुगन्धित) फूल दोनों हाथोंको बराबर सुगन्धित करता है। (वैसे ही सन्त—मित्र और शत्रु दोनोंमें ही समानभाव रखकर दोनोंका भला करते हैं।')* सन्त सरलचित्त और जगत्‌के हितकारी होते हैं ऐसा (उनका) स्वभाव और स्नेहको जानकर मैं विनय करता हूँ।† मेरी बाल-विनय सुनकर कृपा करके मुझ बालकको श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम दीजिये॥ ३॥

नोट—१ '*संत समान चित—*' इति। '*समान चित*' में गीतामें कहे हुए '**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।**' (अ० १४। २४-२५) इस श्लोकके सब भाव हैं। अर्थात् जो निरन्तर अपनी आत्मामें स्थित रहकर दुःख-सुखको समान समझता है, मिट्टी-पत्थर और सुवर्णको समान समझता है, प्रिय और अप्रियको एक-सा मानता है और अपनी निन्दा एवं स्तुतिमें समान भाव रखता है, मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और शत्रुके पक्षमें भी सम है। ये सब भाव '*समान चित*' में हैं। '*समान चित*' और '*जगतहित*' कहकर भगवान्‌की परा भक्तिको प्राप्त सन्तोंकी वन्दना सूचित की। यथा, '**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।**'(गीता १८। ५४)

नोट—२ (क)—पूर्वार्धमें '*संत समान चित—कोउ*' कहकर उत्तरार्धमें उदाहरण देते हैं। शत्रु-मित्रमें समान व्यवहार करना कहा, यह 'चतुर्थ तुल्ययोगिता अलङ्कार' है। उत्तरार्ध '*अंजलिगत*……' में 'उदाहरण अलङ्कार' है। दोनोंमें अङ्गाङ्गीभाव है। पूर्वार्धमें जो कहा उसीको उत्तरार्धमें '*सम सुगंध कर दोउ*' कहकर दिखाया। शत्रु-मित्र, उदासीन सभीका कल्याण करते हैं।

(ख) मिलान कीजिये, '**अञ्जलिस्थानि पुष्पाणि वासयन्ति करद्वयम्। अहो सुमनसां प्रीतिर्वामदक्षिणयोः समा॥**' (प्रसङ्गरत्नावली) (सुभा० र० भा० सज्जनप्रशंसा ३) अर्थ दोहेके उत्तरार्धसे मिलता है।

(ग) '*अंजलिगत—*' इति। भाव यह कि जैसे एक हाथसे फूल तोड़कर दूसरे हाथमें रखा जाता है,

---

१-कोइ—१६६१ (पं० शिवलाल पाठक)। पं० अन्य सबोंमें 'कोउ' है।

* दूसरा अर्थ—'और जो अञ्जलिमें प्राप्त सुन्दर फूलकी तरह (दाहिने-बायें) दोनों (हाथों) को बराबर सुगन्धित करते हैं।' (मा० पीयूष प्रथम संस्करण)

तीसरा अर्थ—(श्रीजानकीशरणजी पं० शिवलाल पाठकजीका परम्परागत एक अर्थ यह लिखते हैं) 'जिनके चित्तमें 'समान' अर्थात् प्रवेश किया है हित, (अनहित नहिं कोउ) उनकी दृष्टिमें उनका कोई अनहित अर्थात् शत्रु नहीं।' इस तरह दोहेके पूर्वार्धका अन्वय 'चित्तमें हित समान' ऐसा किया गया जान पड़ता है। 'समान' को क्रिया माना है। पाठक विचार कर लें। गोस्वामीजीने यह अर्थ पढ़ाया हो इसमें सन्देह होता है।

† 'जानि सुभाउ सनेह' का अर्थ लोगोंने यों किया है—(क) 'ऐसा अपना स्वभाव जानकर मेरे उरमें प्रभुपदमें

तो जिस हाथसे तोड़ा गया वह शत्रु और जिसमें ग्रहण किया गया वह मित्र हुआ। फूल शत्रु-मित्रका विचार न करके दोनों हाथोंको बराबर सुगन्धित करता है, एकको कम दूसरेको अधिक ऐसा नहीं। ऐसा ही स्वभाव सन्तका है। यथा—*'काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥'* (७। ३७) वे अपना गुण अपकार करनेवालेको भी देते हैं, जैसे चन्दन काटनेवाले कुल्हाड़ेको भी सुगन्ध दे देता है।

(घ) *'कर'* श्लिष्ट है। देहलीदीपकन्यायसे *'सुगंध'* और *'दोउ'* दोनोंके साथ है। अन्वय *'सम सुगंध कर दोउ'*=दोउ कर (को) सम सुगन्ध कर।=दोनों हाथोंको समान सुगन्धित करता है।

टिप्पणी—१(क) पहले सन्त-समाजकी वन्दना की थी—*'सुजनसमाज सकल गुन खानी। करौं प्रनाम करम मन बानी॥'* (२। ४) अब यहाँ 'सन्त' की वन्दना करते हैं—*'बंदौं संत समानचित——।'* (ख) सन्त-वन्दना-प्रकरण यहाँ सम्पुट हुआ। *'सुजनसमाज—।'* (२ । ४) उपक्रम है और *'बंदौं संत समानचित—'* *'संत सरलचित——'* उपसंहार है।

टिप्पणी—२ *'संत सरलचित जगतहित……'* इति। (क) प्रथम *'सरलचित जगतहित'* विशेषण देकर तब *'जानि सुभाउ सनेहु'* लिखनेका तात्पर्य यह है कि सन्त स्वभावसे सरलचित्त हैं, सरलचित्त होनेसे सबपर निश्छल स्नेह रखते हैं, राग-द्वेषरहित हैं *'हित अनहित नहिं कोउ'* इसीसे जगन्मात्रके हितैषी हैं। पुनः (ख) ये विशेषण सहेतुक हैं, साभिप्राय हैं, सरलचित्त हैं अर्थात् निश्छल हैं और सबपर प्रेम करते हैं। यथा—*'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।'* (१। २३७) *'नाथ सुहृद सुठि सरलचित सील सनेह निधान। सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिअ आपु समान॥'* (२। २२७) इसलिये हमारे दोष न देखिये। *'जगतहित'* हैं, अतः मेरा भी हित कीजिये। जैसे आपका चित्त निर्विकार है, मेरा चित्त भी वैसा ही कर दीजिये। जैसे आपमें श्रीरामपदरति (पराभक्ति) है वैसी ही प्रीति, भक्ति मुझको दीजिये। (ग) [*'बाल बिनय'* का भाव यह है कि मैं बच्चा हूँ, आप मेरे माता-पिता हैं। मेरे वचन बालकके तोतले वचनके समान हैं। जैसे माता-पिता बच्चेके तोतले वचनोंको प्रसन्न मनसे सुनते हैं और उसका आशय समझ लेते हैं, जो कुछ वह माँगता है, वह उसे देते हैं। वैसे ही मेरी टूटी-फूटी देशी-भाषामें जो यह वन्दना है उसकी अटपट वाणीपर ध्यान न दीजिये, अपनी ओरसे कृपा करके श्रीरामपदप्रीति दीजिये। पुनः, भाव कि बालकोंकी सामान्य बातपर सबका छोह रहता है, यदि विनयमय ठहरे तो कहना ही क्या? (सू० प्र० मिश्र) पुनः, भाव कि बालकका वचन सबको प्रिय लगता है, चाहे वह किसी अवस्थामें क्यों न हो और चाहे वह माननेलायक हो या न हो, उसका प्रभाव तो दूसरेपर पड़ता ही है। (सू० प्र० मिश्र) (घ) *'करि कृपा'* का भाव कि मैं इस योग्य नहीं हूँ, आप अपनी ओरसे कृपा करके दीजिये। बिना आपकी कृपाके श्रीरामपदरति नहीं मिल सकती। यथा—*'सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥'* (७। १२०) (ङ) *'रामचरनरति देहु'* कहकर जनाया कि आपलोग श्रीरामपदरतिके मालिक या खजाञ्ची हैं, बिना आपके वह किसीको मिल नहीं सकती।]

प्रीति विचारकर' (वै०)। (ख) 'मेरा दीन स्वभाव और भगवान्के यशमें प्रेम जानकर' (पं०)। (ग) 'और परोपकारमें स्नेह रखते हैं, उनका ऐसा स्वभाव जानकर' (वीरकवि)। (घ) 'उस (सरल चित्त जगत्हितकारी) स्वभावसे स्नेह करके' (बाबा हरीदासजी)। (ङ) 'ऐसा परोपकारी स्वभाव जानकर मैं स्नेहसे वन्दना करता हूँ। (पं० रामकुमारजी) यह अर्थ भी ठीक बैठता है।

२ बाबा जानकीदासजीके मतानुसार 'बंदौं' शब्द जो इन दोनों दोहोंके आदिमें आया है वह दोनों दोहोंके साथ है। अर्थ करते समय दोनोंके साथ लगा लेना चाहिये। 'बंदौं संत समानचित……', 'बंदौं संत सरलचित……'। उत्तरार्धमें 'बाल बिनय सुनि' होनेसे हमने 'विनय करता हूँ शब्द 'बालविनय' में ध्वनित समझकर अर्थ किया है जैसे कि वीरकविजीने किया है। बिना 'बंदौं' और विनय करता हूँ के भी अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं।

अर्थ—२ 'हे सरलचित्त जगत्हित सन्तो! मेरे (अथवा अपने) स्वभाव और स्नेहको समझकर मुझ बालककी बालविनय सुनकर कृपा करके श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम दीजिये।'

टिप्पणी—३ उत्तरकाण्ड दोहा १२१ में जो *'पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'* (१४) यह कहा है, उसे यहाँ 'सुजनसमाजवन्दनाप्रकरणमें' चरितार्थ (घटित) कर दिखाया है। *'हरिहरकथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥'* में वचन, *'संत समान चित'*, *'संत सरल चित'* में मन और *'जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा'* में कायासे परोपकार दर्शाया।

सन्तसमाज एवं सन्तवन्दना-प्रकरण समाप्त हुआ।

खल-वन्दना-प्रकरण

बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु[1] बाएँ॥ १॥

शब्दार्थ—**बहुरि**=(सन्तवन्दनाके पश्चात्) अब; इसके उपरान्त; पीछे; अनन्तर। **खलगन**=खल समाज, दुष्टसमूह। **सतिभाएँ** (सतभाव) सच्चे भावसे, सद्भावसे; कपट-छल बनावट या आक्षेपसे नहीं; सन्तस्वभाव-से=उचित रीतिसे (सू० प्र० मिश्र)। **काज**=प्रयोजन, मतलब, अर्थ, उद्देश्य। **बिनु काज**=बिना प्रयोजनके; व्यर्थ ही; अकारण ही। अर्थात् ऐसा करनेसे उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, कुछ भला नहीं होता तो भी। **दाहिनेहु**=अनुकूल; जो हितमें प्रवृत्त है; हितैषी। **बाएँ**=प्रतिकूल; शत्रु।

अर्थ—(सन्तवन्दनाके अनन्तर) अब मैं सद्भावसे खलगणकी वन्दना करता हूँ, जो बिना प्रयोजन ही जो अपने हितैषी हैं उनके भी प्रतिकूल हो जाते हैं॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) गोस्वामीजीने पहले सन्त-समाजकी वन्दना की, फिर सन्तकी। यथा *'सुजन समाज सकल गुनखानी। करौं प्रनाम—', 'बंदौं संत समानचित।'* वही क्रम उन्होंने खलवन्दनामें रखा है। पहले 'खलगण' की वन्दना करते हैं, आगे 'खल' की करेंगे। अर्थात् प्रथम समष्टिवन्दना करके फिर व्यष्टि-वन्दना करते हैं। (ख) खलोंकी वन्दनासे गोस्वामीजीकी साधुता दर्शित होती है। सन्त समानचित्त हैं, यह वे अपने इस कर्त्तव्यसे दिखा रहे हैं। सन्त समानचित्त हैं, उनका न तो कोई हित है न अनहित; अतः उन्होंने सन्तोंकी वन्दना की और खलोंकी भी की। सन्तोंकी सद्भावसे वन्दना की। यथा—*'करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी।'* (२। ४) वैसे ही खलोंकी *'सतिभाएँ'* वन्दना करते हैं। पुनः, [सन्तवन्दनाके पश्चात् खलवन्दनाका भाव यह कि भगवद्भक्तोंको दुष्टोंसे द्वेष न रखना चाहिये। यथा—*'हित सन हित रति राम सन, रिपु सन बैर बिहाय। उदासीन संसार सन, तुलसी सहज सुभाय॥'* (सतसई) (मा० म०)] अथवा खलके विपर्ययमें साधुके लक्षण देख पड़ते हैं। इसलिये खलवन्दना की।

नोट—१ 'खलोंकी वन्दना किस अभिप्रायसे की गयी?' इस प्रश्नको लेकर टीकाकारोंने अनेक भाव लिखे हैं; जिनमेंसे कुछ ये हैं—(क) वे न हों तो सन्तोंका महत्त्व ही न प्रकट हो। यथा—*'जिते प्रतिकूल मैं तो मानौं अनुकूल, याते संतनप्रभावमणि कोठरीकी ताली है।'* (भक्तिरसबोधिनीटीका कवित्त २६५) (ख) खल-परिहासके डरसे साधु साधुता बनाये रखते हैं। (ग) काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि *'जगत्को तीरथ तारैं जलथल प्रभाव, औ मुनिहु किए आदर ए पाव तीनि बलन को। तीरथको साधू तारै रामभगति के प्रभाव, लोक वेद संमत जे धरे चाल चलन को॥ सर्वस अपनो बिगारि सिर धरि जमदूत मार, सब प्रकार खल धोवैं साधुन के मलन को। महाव्रतधारी बिनु हेतु उपकारी ए, ऐसी जिय जानि प्रणाम किये खलन को॥'*

गोस्वामीजीने इस सम्भावित शङ्काका उत्तर स्वयं ही आगे दिया है कि *'खल अघ अगुन साधु गुन*

---

[1] १-दाहिने—(रा० प्र०) दाहिनहु-१७०४। दाहिनेहु—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। १६६१ में 'हु' पर हरतालका भास-सा है पर लख नहीं पड़ता।

गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥' 'तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥' (६। १-२) अर्थात् गुण-अवगुणका वर्णन लोकशिक्षात्मक है। सन्तवन्दनाके बहाने सन्तोंके गुण दिखाकर व्यङ्गसे परलोकमार्ग दर्शित किया है और अब खलवन्दनाके व्याजसे उनके सङ्गको भवसागरमें डूबनेका मार्ग बताया। सन्तगुण बताये जिसमें लोग इनका सङ्ग करें। खलोंके लक्षण भी बताये जिसमें लोग इन्हें पहचानकर इनसे बचें, अलग रहें। खलोंकी पहिचान बहुत कठिन है, यदि उनके लक्षण न लिखे जाते तो उनका त्याग असम्भव था।

नोट—२ *'बहुरि बंदि'* इति। *'बंदि'* अपूर्ण क्रिया है। इसका अर्थ है 'वन्दना करके'। यथा—*'बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिरबचन लहे प्रिय जी के॥'* (२। २४३) *'प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई। चले……॥'* (२। ३१८) *'फिरे बंदि पग आसिष पाई।'* (२। ३१९) *'मन महुँ चरन बंदि सुख माना।* (३। २८) *'बंदि चरन बोली कर जोरी।'* (१। २३५) *'सतानंदपद बंदि प्रभु बैठे गुर पहिं जाइ।'* (१। २३९) इत्यादि। अपूर्णक्रिया देनेका भाव यह है कि अभी 'खलगण' की समष्टि वन्दना करके आगे खलकी वन्दना करेंगे। इस अपूर्ण क्रियाकी पूर्ति *'बन्दौं खल जस सेष सरोषा।'* (४।८) पर होती है। बीचमें *'जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ'* से लेकर *'जिमि हिमउपल कृषी दलि गरहीं॥'* तक 'खलगण' के विशेषण दिये गये हैं। अर्थात् जिनमें ऐसे गुण हैं उनकी सद्भावसे वन्दना करके फिर खलकी वन्दना करेंगे। अपूर्ण क्रिया माननेसे प्रथम चरणका अर्थ होता है कि अब सद्भावसे खलगणकी वन्दना करके कि जो……।' (यह अर्थ प्रथम संस्करणमें दिया गया था।) परन्तु समस्त टीकाकारोंने यहाँ *'बंदि'* का अर्थ 'वन्दना करता हूँ' लिखा है। अतः हमने भी इस संस्करणमें वही अर्थ दिया है। किसी-किसी महानुभावका मत है कि अभी सन्तवन्दना समाप्त नहीं हुई है, आगे फिर वन्दना करेंगे। यथा—*'बंदउँ संत असज्जन चरना।'* (५। ३) इसीसे यहाँ अपूर्ण क्रिया दी गयी।

नोट—३ *'खल गन सतिभाएँ'* इति। (क) *'खल'* शब्दकी व्युत्पत्ति सुभाषितरत्नभाण्डागारमें यों बतायी है। **'विशिखव्यालयोरन्त्यवर्णाभ्यां यो हि निर्मितः। परस्य हरति प्राणान्नैतच्चित्रं कुलोचितम्॥'** (दुर्जननिन्दा श्लोक ३) अर्थात् विशिख और व्यालके अन्तिम अक्षरों (ख, ल) से जो शब्द बना है वह यदि दूसरोंके प्राणोंको हरण करता है तो आश्चर्य ही क्या? कुलके योग्य ही तो करता है। बाण और सर्प दोनों ही प्राण हर लेते हैं। कारणसे कार्य कठिन होता ही है। अतः खल विशिख और व्यालसे भी अधिक हुआ ही चाहे। (ख) *'सतिभाएँ'* सच्चे भावसे। अर्थात् जैसे सन्तोंकी वन्दना मन, कर्म, वचनसे की थी, वैसे ही खलोंकी वन्दना सद्भावसे करता हूँ। यदि इनकी वन्दनामें *'सतिभाएँ'* न कहते तो निन्दा और कुभाव सूचित होता। जिस उत्साहसे सन्तोंके गुण कहे; उसी उत्साहसे खलोंके गुण और स्वरूप कहेंगे, न्यूनाधिक नहीं। (पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि *'सतिभाएँ'* कहनेका अभिप्राय यह है कि मेरी बातोंसे वे अवश्य बुरा मानेंगे तथापि भीतर उनकी आत्मा यही कहेगी कि तुलसी सच कहता है। इससे **'सत्ये नास्ति भयं क्वचित्'** इस वाक्यको दृढ़ प्रमाण कर ग्रन्थकार खल-वन्दनामें प्रवृत्त हुए। विशेष दोहा ४ में *'बिनती करइ सप्रीति'* में देखिये।

नोट—४ 'बिनु काज'=व्यर्थ ही। अर्थात् ऐसा करनेसे उनको कोई लाभ नहीं होता, उनका कोई काम नहीं निकलता।

नोट—५ *'दाहिनेहु बाएँ'* इति। जो अपने हितैषी हैं, अपने अनुकूल हैं, अपने साथ भलाई ही करते हैं, उनके भी ये प्रतिकूल हो जाते हैं, उनके साथ भी बुराई ही करते हैं।

यही अर्थ पं० रामकुमारजी और प्रो० रामदास गौड़जी करते हैं और यही सबसे उत्तम जँचता है। इसी अर्थमें खलोंका गौरव है। जहाँ सन्त आप दुःख सहकर बुराई करनेवालोंसे भी भलाई करते हैं, वहाँ खल बिना प्रयोजन ही अपने हितुओंके साथ भी बुराई करते हैं। यथा—*'बैर अकारन सब काहू*

सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥' (७। ३९) बामके साथ तो प्रायः सभी बाम होते हैं, पर ये दाहिनेके साथ भी बाम होते हैं। यथा—*'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।'* (७। १२१)

'दाहिनेहु बाएँ' के अन्य भाव ये कहे गये हैं कि (१) दाहिने भी बाएँ भी वा दहिने बायें। अर्थात् कभी इस पक्षमें कभी उस पक्षमें, कभी इस पक्षसे उस पक्षमें और उस पक्षसे इस पक्षमें, यों इधर-उधर आना-जाना खलोंका स्वभाव जगत् प्रसिद्ध है। (द्विवेदीजी) ग्रन्थकार खलोंका स्वभाव दिखाते हैं। जगत्का तो स्वभाव है कि लोग अपनी गरजसे भले-बुरे होते हैं, पर खल तो बिना कामहीके भले-बुरे बने रहते हैं। (२) दाहिने अर्थात् पहिले अनुकूल होते हुए भी फिर बायें अर्थात् प्रतिकूल हो जाते हैं। (३) *'दाहिने बाएँ'* मुहावरा है। अर्थात् जबरदस्ती किसीके काममें कूद पड़ते हैं। (पर इन अर्थोंमें कोई गौरव नहीं दीखता।) (४) पाँडेजी कहते हैं कि *'बिनु काज'* भलाई करनेवाले और बुराई करनेवाले दोनोंसे सम्बन्धित हैं। वे *'सतिभाएँ'* को *'खलगन'* का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं कि 'जिनकी सत्य भावना है बिना प्रयोजन भलाई करनेवालोंसे बुराई करते हैं।' (५) (पंजाबीजी लिखते हैं कि) यदि ये मार्गमें चले जाते हों और उधरसे कोई पुरुष किसी कार्यकी सिद्धिके लिये आ रहा है और उसको दाहिने देकर चलनेसे उसका मङ्गल होगा और इनका कुछ बिगड़ता नहीं तो भी उसको दाहिना न देकर उसके बाएँ हो जाते हैं। (६) 'परमार्थमार्ग त्यागकर दाहिने बाएँ चलते हैं। दाहिने यह कि कदाचित् कोई उत्तम कार्य किया तो अभिमानसे नामके लिये अथवा किसी अन्य स्वार्थसिद्धिके लिये जिसमें परमार्थ किञ्चित् छू भी न जाय और *'बाएँ'* का भाव तो आगे प्रसिद्ध है।' (वै०) (७) **दाहिनेहु बाएँ**=भले-बुरे काम करनेमें लगे रहते हैं अर्थात् अनेक भले काम भी केवल दिखावटी और बनावटी होते हैं। (वि० टी०)

परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे॥ २॥

शब्दार्थ—**पर**=पराये; दूसरेके। **हित**=भलाई। **केरे**=का। **उजरे** (उजड़े)=नष्ट, बरबाद वा वीरान होनेसे; किसी भी प्राणीके न रह जानेसे। **बसेरे**=घर बस जानेसे। आबाद होनेसे। **बिषाद**=दुःख, शोक।

अर्थ—पराये हितकी हानि ही जिनका लाभ है। (दूसरेके) उजड़नेमें जिनको हर्ष और बसनेमें दुःख होता है॥ २॥

नोट—१ भाव यह है कि (१) दूसरेका नुकसान होनेसे उनको चाहे कुछ न मिले, पर वे इसीमें सुख मानते हैं कि दूसरेका भला किसी तरह न होने पावे। दूसरेकी हानि देखनेसे उनको जो सुख होता है, उसे वे परमलाभ ही होनेके कारण सुखके बराबर समझते हैं। (२) *'उजरे हरष'* अर्थात् जैसे किसीके घर आग लगी, सब सम्पत्ति घरबार जल गया, उसका तहस-नहस हो गया इत्यादि विपत्तिका आना, उसके बने-बनाये खेलका बिगड़ जाना सुनकर उनको आनन्द प्राप्त होता है। यथा—*'जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जगनृपती॥'* (उ० ४०) (३) *'बिषाद बसेरें'* अर्थात् बसा हुआ देखकर दुःख होता है। भाव यह कि किसीका फूला-फला घर देखा तो उनको दुःख होता है। यथा, *'काहू की जो सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥'* (उ० ४०) *'खलन्ह हृदय अतिताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी॥'* (उ० ३९)

नोट—२ बैजनाथजी एवं बाबा हरिहरप्रसादजी *'उजरे हरष बिषाद बसेरे'* का दूसरा अर्थ यह करते हैं कि इसीसे उनके हृदयका 'हर्ष उजड़ गया और विषादने यहाँ बसेरा लिया है।' पंजाबीजी यह भाव लिखते हैं कि 'लोगोंके हृदयरूपी पुरको भगवत्-विमुख देख प्रसन्न होते हैं और हरिपरायण देखकर शोक करते हैं'।

नोट—३ अलङ्कार—'प्रथम असङ्गति'। कार्य और कारण न्यारे-न्यारे ठौर हैं, हानि किसीकी कहीं हुई, यह कारण और उससे भला दूसरेका यह कार्य।

नोट—४ सज्जन परहितमें अपना हित मानकर हर्षित होते हैं और परायी हानिमें हानि मानते

हैं। यथा—'*परदुख दुख सुख सुख देखे पर।*' (७। ३८) '*परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता।*' (७। १२५) साधारण लोग अपने लाभमें लाभ और अपनी हानिमें हानि मानते हैं। और खल इन दोनोंके विपरीत परहितहानिको ही लाभ मानते हैं, कैसे भी दूसरेका हित नष्ट हो, बस इसीमें उनको हर्ष होता है।

नोट—५ एक खर्रेमें पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि हानि, लाभ, हर्ष और विषाद—ये चार बातें व्यवहारमें सार हैं। खलके साथ वे चारों बातें कहीं। '*परहित हानि*' को दो आवृत्ति अर्थमें पढ़नेसे अर्थ होगा कि '*परहित*' हानि (है) '*परहित हानि*' लाभ (है)। अर्थात् पराया हित होना जिनकी हानि है और पराये हितकी हानि जिनका लाभ है। इस तरह इस चरणमें हानि और लाभ दो बातें कही गयीं। दूसरेमें दो स्पष्ट हैं।

टिप्पणी—१ यहाँ दिखाया कि खलोंका लोक बिगड़ा और आगे '*हरिहर जस राकेस राहु से।*.....' में इनका परलोक बिगड़ना सूचित करके बताते हैं कि इनका लोक और परलोक दोनों बिगड़ता है। भगवान् और भक्तसे विरोधका यही फल है।

नोट—६ सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने ये विशेषण देकर यह सिद्ध किया है कि खल-स्वभाव अव्यवस्थित है। अर्थात् उनके वचन और कर्मका कुछ विश्वास न करना चाहिये। इनके समान कोई नीच नहीं है। भर्तृहरिजी नीतिशतकमें कहते हैं, '**एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये, सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये, ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥**' (७५) अर्थात् जो अपना स्वार्थ त्यागकर दूसरोंका कार्य सम्पादन करते हैं वे सत्पुरुष हैं। जो अपने अर्थमें विरोध न पड़नेपर दूसरोंके कार्यमें उद्यम करते हैं वे सामान्य पुरुष हैं। जो अपने हितके लिये दूसरेका काम बिगाड़ते हैं वे राक्षस हैं। परन्तु जो बिना प्रयोजन पराये हितकी हानि करते हैं, उनको क्या नाम दिया जाय यह हम नहीं जानते। इन्हीं अन्तिमको गोस्वामीजीने 'खल' कहा है।

हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से॥ ३॥

शब्दार्थ—**जस** (यश)=गुणगान, कथा। **राकेस**=(राका=पूर्णिमा+ईश=स्वामी)=पूर्णचन्द्र। **अकाज**=कामका बिगाड़ना। **से**=समान।

अर्थ—हरिहरयशरूपी पूर्णचन्द्र (को ग्रसने) के लिये राहुके समान हैं। पराया काम बिगाड़नेमें सहस्रबाहुके समान योधा हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*हरिहर जस*' इति। हरि और हर दोनोंका यश जब कहें तब यशकी पूर्णता होती है, अतएव दोनोंका यश पूर्णचन्द्र है'। जैसे गोस्वामीजीने शिवचरित कहा और रामचरित भी। औरोंके यश तारागण हैं, हरिहरयश राकेश हैं। (ख) [हरिहरयशको पूर्णचन्द्र कहनेका कारण यह है कि चन्द्रका धर्म कथामें है। दोनों आह्लादके करनेवाले हैं। चन्द्र शब्द 'चदि आह्लादने' धातुसे बना है। उसका अर्थ है '**चन्दयति अमृतरसेन सर्वां भुवं क्लिन्नां करोति वा आह्लादयति इति चन्द्रः।**' अर्थात् जो जगन्मात्रको अपनी अमृतमय किरणोंसे आह्लादित करता है, उसका नाम 'चन्द्र' है। इसी प्रकार कथा भी जगन्मात्रका ज्ञानामृत-सम्प्रदानसे उपकार करती है। (सू० प्र० मिश्र)]

नोट—१ '*राकेस राहु से*' इति। (क) पूर्णचन्द्रसे राहुका सहज वैर है। राहु उसीको ग्रसता है। अन्य तिथियोंके चन्द्रमाको नहीं ग्रसता। यथा, '*बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू।*' (१। २८१) इसी प्रकार खलोंका हरिहर-यशसे वैर है। यथा—'*करहिं मोहबस द्रोह परावा। संतसंग हरिकथा न भावा॥*' (७। ४०) यदि कोई भोले-भाले पण्डित कथा कहते हैं तो ये जाकर अटपट प्रश्न करके वा तर्क-कुतर्क करके कथामें

विघ्न डालते हैं, यही ग्रहणका लगना है। कथा बन्द हो गयी, तो समझो कि पूर्ण वा सर्वग्रास हो गया। जैसे पूर्णचन्द्रको कुछ कालके लिये राहु छिपा देता है, उसी प्रकार किसी समाजमें खल लोग भी हरिहरयशको छिपा देते हैं। (सु० द्विवेदीजी) (ख) जैसे राहु हर पूर्णिमाको नहीं ग्रसता, सन्धि पाकर ग्रसता है। यथा—*'ग्रसै राहु निज संधिहि पाई'* (१। २३८) वैसे ही खल मौका पाकर विघ्न डालते हैं। यदि कोई पण्डित टेढ़े हुए जो वक्रोक्तिसे कथा कहते हैं, तो वे वहाँ नहीं बोलते। (ग) खल कथासे वैर मानते हैं क्योंकि कथामें उनकी निन्दा है। राहु चन्द्रसे वैर मानता है क्योंकि समुद्रमन्थनसे अमृत निकलनेपर जब भगवान्ने मोहिनीरूप धारणकर अपने सौन्दर्य और कुटिल भृकुटिकटाक्षों एवं मनोहर वाणीसे दैत्योंको मोहित कर लिया और असुरोंने उन्हें ही अमृतका घड़ा अमृत बाँटनेके लिये दे दिया और वे देवताओंको ही अमृत पिलाने लगे थे तब राहुने यह देख कि यह स्त्री तो सब अमृत देवताओंको ही पिलाये देती है, देवताओंका वेष धारणकर देवसमाजमें घुसकर अमृत पी लिया; उस समय चन्द्रमा और सूर्यने इशारेसे मोहिनीरूप भगवान्को यह बात बता दी। यथा—'**देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि। प्रविष्टः सोममपिवच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः॥**' (भा० ८। ९। २४) भगवान्ने अमृत-पान करते समय ही चक्रसे उसका सिर काट लिया। अमृतका संसर्ग न होनेके कारण उसका धड़ प्राणहीन होकर गिर पड़ा, किन्तु सिर अमर हो गया। तब ब्रह्माजीने उसे भी एक 'ग्रह' बना दिया। पूर्व वैरके कारण वह चन्द्रमा और सूर्यपर अब भी पूर्णिमा-अमावस्यामें आक्रमण किया करता है। यथा— '**यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः॥**' (भा० ८। ९। २६) अमृत राहुके कण्ठके नीचे न उतर पाया था, इसीसे सिरमात्र अमर हुआ। राहु हिरण्यकशिपुकी लड़की सिंहिकाका पुत्र था।

'सहसबाहु' इति। इसके अन्य नाम सहस्रार्जुन, अर्जुन, कार्तवीर्य और हयहय भी हैं। यह राजा कृतवीर्यका पुत्र था, जिसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी। (जो नर्मदातटपर दक्षिणमें थी। अनूपदेशकी यह राजधानी थी। कोई मण्डलाको माहिष्मती बताते हैं, पर पुराणोंसे इसका नर्मदातटपर होना पाया जाता है।) यह पहले बहुत धार्मिक एवं पवित्र विचारवाला था। कृतवीर्यके मरनेपर जब इसको मन्त्रियों आदिने राज्यपर बिठाना चाहा तब इसने उत्तर दिया कि 'राज्य भविष्यमें नरकमें ले जाता है। जिस उद्देश्यसे प्रजासे कर लिया जाता है, यदि उसका पालन न किया जा सके तो राज्य लेना व्यर्थ है। व्यापारी वाणिज्यके लिये यात्रा कर सकें, लुटेरोंद्वारा लूटे न जायँ, प्रजाकी रक्षा हो, चोर आदि उनकी सम्पत्ति न लें, इत्यादिके लिये ही कर लिया जाता है। यदि राजा कर लेकर रक्षा नहीं कर सकता तो इसका पाप राजाको होता है। यदि राजा वैश्योंसे आयका अधिकांश भाग ले ले तो वह चोरका कर्म करता है, उसके इष्ट और पूर्त कर्मोंका नाश होता है। इसलिये जबतक मैं तपस्या करके पृथिवीके पालनकी शक्ति न प्राप्त कर लूँ जिससे अपने उत्तरदायित्वका पूर्ण निर्वाह कर सकूँ और पापका भागी न रहूँ तबतक मैं राज्य ग्रहण नहीं कर सकता।' यह सुनकर महर्षि गर्गने उससे कहा कि राज्यका यथावत् पालन करनेके लिये यदि तुम ऐसा करना चाहते हो तो दत्तात्रेयभगवान् जो सह्यपर्वतकी गुफामें रहते हैं उनकी आराधना करो। (मार्कण्डेयपुराण, अ० १८) गर्गमुनिके आज्ञानुसार सहस्रार्जुन श्रीदत्तात्रेयजीके आश्रमपर जाकर उनकी आराधना करने लगा। उनके पैर दबाता, उनके लिये माला, चन्दन, सुगन्ध, जल, फल आदि सामग्री प्रस्तुत करता; भोजनके साधन जुटाता और जूठन साफ करता था। उसने दस हजार वर्षोंतक दुष्कर तपस्या करके दत्तात्रेयजीकी आराधना की। पद्मपुराणसृष्टिखण्ड अ० १२ में लिखा है कि पुरुषोत्तम दत्तात्रेयजीने उसे चार वरदान दिये। (१) पहले तो राजाने अपने लिये एक हजार भुजाएँ माँगी। (२) दूसरे, यह माँगा कि 'मेरे राज्यमें लोगोंको अधर्मकी बात सोचते हुए भी मुझसे भय हो और वे अधर्मके मार्गसे हट जायँ' (३) तीसरे यह कि मैं युद्धमें पृथ्वीको जीतकर धर्मपूर्वक बलका संग्रह करूँ।' (४) चौथे वरके रूपमें उसने यह माँगा कि 'संग्राममें लड़ते-लड़ते मैं अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ वीरके हाथसे मारा जाऊँ।' (पुलस्त्यवाक्य

भीष्म प्रति) और मार्कण्डेयपुराणमें दस वरदानोंका पाना लिखा है। (१) ऐश्वर्य-शक्ति जिससे प्रजाका पालन करे और पापका भागी न हो। (२) दूसरेके मनकी बात जान ले। (३) युद्धमें कोई सामना न कर सके। (४) युद्धके समय हजार भुजाएँ प्राप्त हो जायँ। (५) पर्वत, आकाश, जल, पृथिवी और पातालमें अव्याहतगति हो। (६) वध अधिक श्रेष्ठके हाथसे हो। (७) कुमार्गमें प्रवृत्ति होनेपर सन्मार्गका उपदेश प्राप्त हो। (८) श्रेष्ठ अतिथिकी प्राप्ति। (९) निरन्तर दानसे धन न घटे। (१०) स्मरणमात्रसे राष्ट्रमें धनका अभाव दूर हो जाय। भक्ति बनी रहे। यथा—**'यदि देव प्रसन्नस्त्वं तत्प्रयच्छर्द्धिमुत्तमाम्॥ यथा प्रजां पालयेयं न चाधर्ममवाप्नुयाम्। परानुस्मरणज्ञानमप्रतिद्वन्द्वतां रणे॥' 'सहस्रमाप्तमिच्छामि बाहूनां लघुता गुणम्। असङ्गा गतयः सन्तु शैलाकाशाम्बुभूमिषु॥' पातालेषु च सर्वेषु वधश्चाप्यधिकान्नरात्। तथाऽमार्गप्रवृत्तस्य सन्तु सन्मार्गदेशिकाः॥' सन्तु मेऽतिथयः श्लाघ्या वित्तवान्यत्तथाक्षयम्। अनष्टद्रव्यताराष्ट्रे ममानुस्मरणेन च। त्वयि भक्तिश्च देवास्तु नित्यमव्यभिचारिणी॥'** (मार्कण्डेय पु०, अ० १८। १४—१८)

महाभारत वनपर्वमें लिखा है कि महर्षि दत्तात्रेयजीकी कृपासे उसे एक सोनेका विमान मिला था। पृथ्वीके सभी प्राणियोंपर उसका प्रभुत्व था। उसके रथकी गतिको कोई भी रोक नहीं सकता था। यथा—**'दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा। ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते॥' 'अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः।'** (अ० ११५। १२) वह महान् तेजस्वी राजा था। अश्वमेधयज्ञमें उसने बाहुबलसे जीती हुई सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणोंको दे दी। एक बार अग्निदेवने उससे भिक्षा माँगी और उसने अपनी सहस्रभुजाओंके पराक्रमके भरोसे भिक्षा दी। उसके बाणोंके अग्रभागसे प्रकट होकर अग्निने अनेकों ग्रामों, देशों, नगरों, गोशालाओंको भस्म कर दिया। उन्होंने महात्मा आपव (वसिष्ठ)* मुनिके आश्रमको भी जला दिया, जिससे मुनिने उसको शाप दिया कि तेरी भुजाओंको परशुराम काट डालेंगे। अर्जुनने शापपर ध्यान न दिया। (महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ४९ श्लोक ३५—४५। पद्मपु०, सृष्टि० अ० १२) आश्वमेधिकपर्वके ब्राह्मण-ब्राह्मणी-उपाख्यानमें कार्तवीर्य और समुद्रका संवाद है। एक दिन कार्तवीर्य समुद्रके किनारे विचरता हुआ बलके घमण्डमें आकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षासे उसने समुद्रको ढक दिया। तब समुद्रने प्रकट होकर प्रार्थना की 'बाणवर्षा न कीजिये, इससे मेरे अन्दर रहनेवाले प्राणियोंकी हत्या हो रही है। उन्हें अभय दीजिये और जो आपकी आज्ञा हो उसका मैं पालन करूँ'। उसने कहा कि मेरे समान धनुर्धर योद्धा वीर जो मेरा मुकाबला कर सके यदि कोई हो तो उसका पता बता दो। समुद्रने तब उससे जमदग्नि ऋषिके आश्रमपर जानेको कहा और कहा कि उनका पुत्र परशुराम तुम्हारा अच्छी तरह सत्कार कर सकता है। (अ० २९)

यज्ञोंमें देवता इसे प्रत्यक्ष दर्शन देते थे। वर्षाकालमें यह समुद्रका वेगतक रोक देता था। एक बार वह पञ्च बाणोंसे ही अभिमानी रावणको उसकी सेनासहित मूर्च्छित करके बाँध ले गया था। इच्छा करते ही इसके हजार भुजाएँ प्रकट हो जाती थीं। (पद्मपुराण सृष्टिखण्ड) युद्ध करते समय हजार भुजाएँ हो जाती थीं जिनमें बहुत बल होता था पर जो बहुत हलकी होती थीं, जिससे शरीरपर भार न पड़ता था। (मार्कण्डेयपुराण) हरिवंशपुराणमें भी इसकी कथा है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि उसकी सदा दो भुजाएँ रहती थी पर जब-जब लड़ता था तब उसकी हजार भुजाएँ हो जाती थीं। यथा—**'तस्य बाहु सहस्रं तु युद्धतः किल भारत। योगाद्योगेश्वरस्येव प्रादुर्भवति मायया॥'** (अ० ३३ श्लोक १४) पीछे यह बहुत उदण्ड हो गया। रथ और वरके प्रभावसे वीर, देवता, यक्ष और ऋषि सभीको कुचलने लगा। सभी प्राणी उसके द्वारा पीड़ित होने लगे। उसके पुत्र भी बली, घमण्डी और क्रूर थे। शापवश वे ही अपने पिताके वधके कारण हुए। (महाभारत वन० ११५। १४, १५; शान्तिपर्व अ० ४९) यह तन्त्रशास्त्रका आचार्य माना जाता है। पचासी हजार वर्ष इसने राज्य किया। परशुरामजीके हाथों मारा गया। शेष कथाएँ परशुरामगर्वहरण और अङ्गद-रावण तथा हनुमान्-रावणसंवादमें दी गयी हैं। यहाँ उनका प्रयोजन नहीं है।

* ये वरुणके पुत्र थे। पीछे ये वसिष्ठ नामसे विख्यात हुए। (ब्रह्मपुराण ययातिवंशवर्णनमें।) सम्भव है कि वरुणके तेजसे घटसे उत्पन्न होनेपर वसिष्ठजीका ही नाम हुआ हो।

इसकी प्रशंसा ब्रह्मपुराणमें भी इस प्रकार वर्णित है। यज्ञ, दान, तपस्या, पराक्रम और शास्त्रज्ञानमें कोई राजा इसकी स्थितिको नहीं पहुँच सकता था। वह योगी था; इसलिये सातों द्वीपोंमें ढाल, तलवार, धनुष-बाण और रथ लिये सदा चारों ओर विचरता दिखायी देता था। वर्षाकालमें समुद्रमें क्रीड़ा करते समय अपनी भुजाओंसे रोककर उसकी जलराशिके वेगको पीछेकी ओर लौटा देता था। वह जब अपनी सहस्रों भुजाओंको जलपर पटकता था उस समय पातालनिवासी महादैत्य निश्चेष्ट हो जाते थे। ब्रह्मवैवर्त-पुराणके गणेशखण्ड अ० २३—२७ में भी इसकी कथा है।

नोट—२ उपर्युक्त कार्तवीर्यचरितसे मिलान करनेपर *'पर अकाज भट सहसबाहु से'* के ये भाव निकलते हैं कि (क) इनकी दो ही भुजाएँ हैं पर उनसे दूसरोंको हानि पहुँचानेमें इतना परिश्रम करते हैं मानो हजार भुजाओंसे काम कर रहे हों। (ख) सहस्रबाहु प्रजाके घर, उसके मनमें पर अकाजका विचार उठते ही जा खड़ा होता था, प्रजा काँप उठती थी, वैसे ही ये ज्यों ही किसीका काम बनते सुनते हैं, वहाँ जा खड़े होते हैं जिससे उसे विघ्नका भय हो जाता है। (ग) उसने हजार भुजाओंसे दुष्टता की, जमदग्नि मुनिकी गौ छीनी और ये दूसरेकी वस्तु हरने एवं काम बिगाड़नेमें वैसी ही बहादुरी करते हैं। (घ) सहस्रबाहु *'पर अकाज'* अर्थात् शत्रुको हानि पहुँचानेमें भट था और ये *'पर'* अर्थात् दूसरेके कार्यमें हानि पहुँचानेमें भट। लड़ाईमें कार्तवीर्यके सहस्र भुजाएँ हो जाती थीं और पर अकाज करनेमें इनकी भुजाओंमें वैसा ही बल आ जाता है। (मा० प०) (ङ) सहस्रबाहु बल पाकर देवता, ऋषि, मुनि आदिको भी पीडित करने लगा था, वैसे ही खल बल, ऐश्वर्य पाकर उदासीन और मित्रोंका भी अहित करते हैं। (च) उसने कपिला गौ न देनेपर जमदग्निऋषिको मार डाला, वैसे ही खल परायी वस्तु सीधे न मिलनेपर वस्तुके मालिकको मार ही डालते हैं इत्यादि।

नोट—३ यहाँ उपमेय एक ही है *'खल'*; पर उसके लिये अनेक उपमान कहे जा रहे हैं। पृथक्-पृथक् धर्मोंके लिये पृथक्-पृथक् उपमा दी गयी है। अतएव यहाँसे *'उदय केतु सम'* तक 'भिन्नधर्मामालोपमा अलङ्कार' है। २० (८) देखिये। इनके धर्म शब्दोंके भावोंके साथ लिखे गये हैं।

इन चौपाइयोंसे मिलता हुआ श्लोक प्रसंगरत्नावलीमें यह है, **'परवादे दशवदनः पररन्ध्रनिरीक्षणे सहस्राक्षः। सद्वृत्तवित्तहरणे बाहुसहस्रार्जुनो नीचः॥'** (सु० र० भा०) में **'सहस्रार्जुनः पिशुनः'** पाठ है (दुर्जनप्रशंसा १२९) अर्थात् परनिन्दा करनेमें रावणके तुल्य दसमुखवाले, परछिद्रनिरीक्षणमें इन्द्रके समान सहस्र आँखोंवाले, सदाचारियोंकी सम्पत्ति हरण करनेमें नीच सहस्रार्जुनके समान हजार बाहुवाले हैं।

जे पर दोष लखहिं सहसाखी। पर हित घृत जिन्ह के मन माखी॥ ४॥

शब्दार्थ—**लखना** (सं० लक्ष)=लक्षण देखकर समझ लेना; ताड़ना; यथा—*'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड।'* (१। २५९) *'लखइ न रानि निकट दुख कैसे।'* (२। २२) *'लखन लखेउ भा अनरथ आजू।'* (२। ७६) *'लखन लखेउ प्रभु हृदय खभारू।'* (२। २२७)=देखना। **सहसाखी**—टिप्पणी एवं नोटमें दिया गया है। **घृत**=घी। **माखी** (सं० मक्षिका)=मक्खी।

अर्थ—जो पराये दोषोंको 'सहसाखी' देखते हैं। जिनके मन पराये हितरूपी घीमें मक्खी (की तरह जा पड़ते) हैं॥ ४॥

नोट—१ *'जे पर दोष लखहिं'* इति *'परदोष लखहिं'* कहकर जनाया कि पराये छिपे हुए दोषोंको जो राई-सरसोंसमान छोटे हैं उनको भी ढूँढ़ निकालते हैं और अपने दोषोंको, चाहे वे पर्वतसमान बड़े क्यों न हों, नहीं देखते।

नोट—२ *'लखहिं सहसाखी'* इति। (क) यहाँ *'सहसाखी'* के चार प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं। (१) **सहस आँखी**=हजार नेत्रोंसे। (२) **सह साखी**=साक्षीसहित; गवाहको साथ ले जाकर। (३) **सहसा आखी**=एकदमसे आँखसे। (४) **सहस आखी**=व्यंगपूर्ण हँसती हुई आँखोंसे।

(१) पं० रामकुमारजी, पंजाबीजी, सुधाकर द्विवेदीजी आदि कई महानुभावोंने प्रथम अर्थ लिया है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि खलोंके हजार नेत्र नहीं हैं, परन्तु वे परदोषोंमें बहुत (सूक्ष्म) दृष्टि रखते हैं, इसीसे सहस्र नेत्रोंसमान कहा। दो ही नेत्रोंसे हजार नेत्रोंका-सा काम करते हैं। इसीके विपरीत *'सहस नयन'* होनेपर भी भरतजीके भावको न लखनेसे इन्द्रको बिना लोचनका कहा है। यथा—*'बचन सुनत सुरगुर मुसुकाने। सहसनयन बिनु लोचन जाने।।'* इस अर्थमें बैजनाथजी आदि कुछ टीकाकार पुनरुक्ति दोष बताते हैं क्योंकि आगे अर्धाली ११ में *'सहस नयन पर दोष निहारा'* में फिर*'सहस नयन'* आया है। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि इसमें पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि वहाँ परदोषको 'निहारना' कहा है। 'निहारना' प्रत्यक्ष वस्तुके देखनेको कहते हैं। यथा—*'भरि लोचन छबि लेहु निहारी।'* (१। २४६) *'जो न मोह यह रूप निहारी'।* (१। २२१)*'प्रभु सनमुख कछु कहन न पारहिं। पुनि पुनि चरन सरोज निहारहिं।।'* (७। १७) वहाँ *'निहारा'* कहकर जनाया है कि परदोष खलोंको अत्यन्त प्रिय लगता है, अतः वे हजार नेत्रोंसे उसे देखते हैं। और, *'लखना'* छिपी हुई वस्तुको देख लेनेको कहते हैं। 'हजार नेत्रोंसे परदोषको लखते हैं, कहकर जनाया कि कोई उनसे छिपाना चाहे तो छिपा नहीं सकता; ये उसे ढूँढ़ निकालते हैं। पुनः, यहाँ *'खलगन'* (खलसमाज) का लक्षण कहते हैं कि ये *'परदोष लखहिं सहसाखी'* और वहाँ खलका लक्षण कह रहे हैं। यथा—*'बंदउँ खल जस सेष सरोषा।'''''* *'सहस नयन पर दोष निहारा।'* यहाँ खलगणका प्रसङ्ग है। अलग-अलग दो प्रसङ्ग होनेसे पुनरुक्ति नहीं है। दो हैं, इसलिये दो कहे।

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि 'सूक्ष्मदर्शक-यन्त्रोंसे स्पष्ट है कि मक्खियोंको हजारों आँखें होती हैं। वे प्राणियोंके व्रणमलोंको हजारों आँखोंसे देखकर तुरन्त उनपर टूट पड़ती हैं और उस मलके साथ अपना कृमिमय मल और मिला देती हैं जिससे प्राणीको और भी कष्ट भोगना पड़ता है। खल लोग भी ठीक इसी प्रकार बड़े चावसे दूसरोंके दोष देखते हैं।' इस तरह *'माखी'* के सम्बन्धसे *'सहस आँखी'* कहा गया।

दूसरा दोष यह कहा जाता है कि *'सहस आखी'* पाठ माननेसे 'आ' पर अपनी ओरसे अनुस्वार लगाना पड़ता है। बिना अनुस्वार *'आखी'* का अर्थ 'नेत्र' नहीं होता। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि *'माखी'* के जोड़के लिये यहाँ *'आखी'* लिखा गया। फिर कोशमें 'आखना' का अर्थ 'देखना' मिलता है।

(२) *'सह साखी'* पाठमें पुनरुक्ति आदिका प्रश्न ही नहीं उठता। *'सह साखी'* का भाव यह है कि स्वयं देखते हैं और दूसरोकों साथ ले जाकर दिखाते हैं कि गवाह रहना। इसका कारण यह है कि दुष्ट होनेके कारण इनका कोई विश्वास नहीं करेगा। अतः साक्षी भी साथ ले जाते हैं।

(३) *'सहसा आखी।'* इस पाठका भावार्थ यह है कि *'सहसा'* (एकदमसे, एकाएक) आँख डालकर (वा, आखी=देखकर) लख लेते हैं अर्थात् बहुत शीघ्र देख लेते हैं। एवं बिना दोष निर्णय किये हुए ही दोषदृष्टि करते हैं। (वि० टी०, रा० प०)

(४) *सहस आखी=* हँसते हुए (आँखसे) देखते हैं।

मेरी समझमें *'सहसाखी'* शब्द देकर ग्रन्थकारने उपर्युक्त सभी भाव एक साथ सूचित किये हैं। खल पराये दोषोंको इस प्रकार लख लेते हैं कि मानो उनके हजारों नेत्र हैं कि उनसे कोई भी छिद्र बच नहीं सकता। इतना ही नहीं, वरञ्च वे शीघ्र ही दोषको ढूँढ़ निकालते हैं और दूसरोंको भी दिखाते हैं और हँसी भी उड़ाते हैं। एक दोषको वे हजारगुणा करके देखते हैं। *'लखहिं'* से जनाया कि उनकी इतनी तेज सूक्ष्मदृष्टि है कि जो दोष अभी मनमें ही गुप्त हैं उनको भी ढूँढ़ निकालते हैं।

टिप्पणी—१ इस प्रकरणमें *'परदोष'* के सम्बन्धमें चार बातें दिखायी हैं। (क) परदोष लखते हैं। (ख) परदोष कहते हैं। यथा, *'सहस बदन बरनै परदोषा।।'* (८) (ग) परदोष सुनते हैं। यथा, *'पर अघ सुनइ सहस दस काना॥'* (९) (घ) परदोष निहारते हैं। *'सहस नयन परदोष निहारा॥'* (११) खलोंके ये लक्षण बताकर भलोंको उपदेश देते हैं कि इन चारों दोषोंसे बचे रहें।

नोट—३ *'परहित घृत जिन्ह के मन माखी'* इति। (क) ग्रन्थकारने *'हित'* को *'घृत'* की उपमा दी,

सो बहुत ही ठीक है; क्योंकि 'घी' से बढ़कर कोई वस्तु शरीरके लिये उपकारक नहीं है।—श्रुति भी कहती है 'घृतमायुः'। अन्यत्र भी कहा है, 'आयुर्वै घृतं भवति।' घृत परम उपकारक है। आयुका वर्द्धक है और मनुष्यको आयुसे बढ़कर प्रिय वस्तु नहीं। (सू० प्र० मिश्र) (ख) भाव यह है कि जैसे घीमें मक्खी गिरती है तो उसके पैर, पङ्ख सब लिपट जाते हैं, उसका अङ्गभङ्ग हो जाता है। घीको कोई खराब (अपवित्र) नहीं समझता, मक्खीको लोग निकाल फेंकते हैं। वैसे ही खलोंके मन पराया हित बिगाड़नेमें नित्य लगे रहते हैं। जो हितकी हानि न हुई तो उनका परिश्रम व्यर्थ हुआ, मनोरथ पूर्ण न होनेसे मनको दुःख हुआ, उदासी छा गयी, यही अङ्गभङ्ग होना है, लोग उलटे इन्हींको दोष देने लगते हैं। अथवा घी मक्खीका नाशक है, उसके लिये विष है, उसमें गिरते ही वह मर जाती है, पर हजारों आँखें होते हुए भी वह अपने नाशपर ध्यान नहीं देती, उसे बिगाड़नेके लिये उसमें कूद पड़ती है और प्राण दे देती है। वैसे ही खल लोग दूसरेका हितरूपी घृत बिगाड़नेके लिये आग-पानी कुछ नहीं समझते, उसके बने-बनाये कामको बिगाड़नेके लिये प्राण भी दे देते हैं। (द्विवेदीजी; सू० प्र० मिश्र) अथवा परहित (परोपकार) के समान कोई धर्म नहीं है। यथा—*'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।'* (७। ४१) और घी भी परमोपकारक है, अतः परहितको घृत कहा। जैसे मक्खीके लिये घी विष है, वैसे ही परोपकार करना उनके मनरूपी मक्खीके लिये विष है; यदि कहीं किसीका उपकार हो गया तो उनके मनको मरणतुल्य दुःख हो जाता है।

यहाँ खलोंको मक्खी नहीं कहा, उनके मनको मक्खी कहा है। अतः भाव यही होता है कि उनका मन सदा परहितके बिगाड़नेमें मक्खीकी तरह लगा रहता है।

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥ ५॥

शब्दार्थ—**तेज**=प्रचण्डता, ताप। **कृसानु** (कृशानु)=अग्नि। **रोष**=क्रोध। **महिषेस**=यमराज।=महिषासुर। यथा, *'महामोह महिषेसु बिसाला।'* (१। ४७) **अघ**=पाप। **धनी**=धनवान्, धनाढ्य, मालदार। **धनेसा** (धनेश)=धनके स्वामी; कुबेर। ये विश्रवा मुनिके पुत्र और रावणके सौतेले भाई थे। ब्रह्माजीने इन्हें देवता बनाकर उत्तर दिशाका अधिकारी बना दिया था। संसारभरके धनके स्वामी इन्द्रकी नवनिधियोंके भण्डारी और श्रीशिवजीके मित्र कहे जाते हैं। पूर्वजन्ममें ये ही गुणनिधि द्विज थे।

अर्थ—जो तेजमें अग्नि और क्रोधमें 'महिषेश' के समान हैं; पाप और अवगुणरूपी धनमें कुबेरके समान धनी हैं॥ ५॥

नोट—१ (क) *'तेज कृसानु'* इति। तेजसे यहाँ बल-वैभव आदिकी प्रचण्डतासे तात्पर्य है। अर्थात् बल-वैभव आदि पाकर जो उनमें दूसरोंको जलानेवाला प्रचण्ड ताप है वह अग्निके समान है। अग्निका तेज बड़ा प्रचण्ड होता है, वह सभी कुछ जला डालनेको समर्थ है। यथा—*'काह न पावकु जारि सक।'* (२। ४७) खलोंके तेजको अग्नि कहनेका भाव यह है कि (१) जैसे आग स्वयं तप्त है और दूसरोंको भी अपनी आँचसे तप्त कर देती है, वैसे ही यदि इनके वैभव और बल हुआ तो ये उसे दूसरेके जलाने, सन्तप्त करनेके ही काममें लाते हैं। (२) जैसे अग्नि अपने तेजसे बुरी-भली सभी वस्तुओंको जला डालता है, वैसे ही ये मित्र, शत्रु, उदासीन सभीको अपने तेजसे संताप पहुँचाते, जलाते वा उजाड़ते हैं, किसीको नहीं छोड़ते। (३) बात-बातमें जैसे अग्नि (घी, ईंधन, पवन, कपूर, गुग्गुल, राल आदिकी आहुतियाँ पा-पाकर) अधिक प्रचण्ड होता है और शुभाशुभ सभी वस्तुओंको भस्म करनेमें उद्यत हो जाता है, वैसे ही खल भी ज्यों-ज्यों अधिक बल और वैभव पाता है त्यों-त्यों वह अपनी तेजी (प्रचण्डता) को अग्निके समान बढ़ाता है। (४) जैसे अग्नि स्वयं तप्त है वैसे ही खल भी सदा अपने क्रोधसे जला करते हैं, सदा लालमुख रहते हैं।

(ख) *'रोष महिषेसा'* इति। 'महिषेश' के दो अर्थ होते हैं। **महिषेश**=महिष+ईश=भैंसेका देवता=वह देवता जिसका वाहन भैंसा है=यमराज जिनको धर्मराज भी कहते हैं। ये विश्वकर्माकी कन्या संज्ञाद्वारा सूर्यके

पुत्र हैं। ये दक्षिण दिशाके स्वामी और मृत्युके देवता हैं। इनके लोकका नाम यमलोक है। मृत्युके समय इनके ही दूत शरीरसे प्राण निकालनेके लिये आते हैं। मनुष्यकी आत्माको लेकर वे यमराजके पास जाते हैं। वहाँ श्रीचित्रगुप्तजी महाराज उसके शुभाशुभ कर्मोंका लेखा पढ़ सुनाते हैं, जिनपर धर्मपूर्वक विचार कर वे उस प्राणीको स्वर्ग वा नरक आदिमें भेजते हैं। स्मृतियोंमें चौदह यम कहे गये हैं। यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, उदुम्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त। इनका वाहन महिष (भैंसा) है और दण्ड तथा पाश इनके आयुध हैं। पाशसे प्राणीको बाँधते हैं और पापी प्राणियोंको दण्डसे दण्ड दिया जाता है। पापियोंपर ये अत्यन्त क्रोध करते हैं। यमराज अर्थसे *'रोष महिषेसा'* का भाव यह होता है कि जैसे यमराज पापी प्राणीका प्राण हरकर क्रोध करके उसको दण्ड देते हैं, वैसे ही खल क्रोध करके दूसरोंके प्राण ही नहीं लेते किंतु मरनेपर भी उसका पीछा नहीं छोड़ते। पुनः जैसे क्रोधमें भरे हुए यमराजको देखकर भला कौन जीवित रह सकता है। यथा— **'कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन।'** (मार्कण्डेयपु० महिषासुरवध अ० ४। १३) वैसे ही खलोंके रोषसे दूसरोंके प्राण ही हरण हो जाते हैं।

'महिषेश' का दूसरा अर्थ महिषासुर है। यह रम्भ नामक दैत्यका पुत्र था। (भा० ६। १८। १६ में इसे हिरण्यकशिपुके अनुह्लाद नामक पुत्रका पुत्र कहा है।) इसकी आकृति भैंसेकी-सी थी अथवा यह भयङ्कर भैंसेका रूप धारण करता था इससे महिषासुर नाम पड़ा। इसकी माँका नाम महिषी था। इसने हेमगिरिपर कठिन तपस्या करके ब्रह्माजीसे वह वर पाया था कि स्त्री छोड़ किसी पुरुषसे इसका वध न हो सके। वर पाकर इसने इन्द्रादि सभी दिग्पालोंको जीतकर उनके लोक और अधिकार छीन लिये तथा स्वयं सबका अधिष्ठाता बन बैठा। क्रोधावेशमें यह कैसा भयङ्कर हो जाता था, यह देवीसे युद्धके समयके वृत्तान्तसे कुछ प्रकट हो जायगा। अतः हम संक्षेपसे यहाँ उसका वर्णन करते हैं। अपनी सेनाका संहार देख इसने भैंसेका रूप धारण कर देवीके गणोंको त्रास देना आरम्भ किया। **'माहिषेण स्वरूपेण त्रासयामास तान् गणान्।'** (मार्कण्डेयपु० महिषासुर-वध अ० ३। २१) कितनेहीको थूथुनोंसे, कितनोंको खुरोंसे, किन्हींको सींगोंसे या पूँछसे, किन्हींको सिंहनादसे अथवा निःश्वास वायुके झोंकेसे मारकर धराशायी कर दिया। क्रोधमें भरकर धरतीको खुरोंसे खोदने लगा और अपने सींगोंसे ऊँचे-ऊँचे पर्वतोंको उठाकर फेंकता और गरजता था। उसके वेगसे चक्कर देनेके कारण पृथ्वी क्षुब्ध हो फटने लगी। उसकी पूँछसे टकराकर समुद्र पृथ्वीको डुबाने लगा, श्वासकी प्रचण्ड वायुके वेगसे उड़े हुए सैकड़ों पर्वत आकाशसे गिरने लगे। भैंसासे तुरन्त सिंह, सिंहसे खड्गधारी पुरुष, इसी तरह कभी गजराज, कभी पुनः भैंसारूप धारणकर अपने बल और पराक्रमके मदसे उन्मत्त हुआ वह चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको व्याकुल करने लगा। कालिकादेवीने उसको मारा। देवता इसके क्रोधसे काँपते थे।

रोष महिषासुरके समान है। भाव यह कि अपने बल और पराक्रम एवं वैभवके मदसे उन्मत्त होकर वे सभी प्राणियोंको अनेक यत्न कर-करके पीड़ित किया करते हैं। अथवा, अपनी तेजीको आग-सरीखा बढ़ाकर, बात-बातमें अपने रोषको प्रचण्ड कर-करके महिषासुरकी तरह लाल-लाल आँखें करके हाँफने लगते हैं। (सुधाकर द्विवेदीजी)

नोट—२ *'अघ अवगुन धन धनी धनेसा'* इति। भाव यह कि (क) 'कुबेरके समान ये हजार भुजाओंसे अघ अवगुणरूपी धन बटोरते हैं'। अर्थात् जैसे कुबेरके धनकी संख्या नहीं, वैसे ही इनके पापों और अवगुणोंका अन्त नहीं। यथा—*'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥'* (१। ६) इसी कारण उनको अघ-अवगुणका धनी कहा। (पं० रामकुमारजी) (ख) कुबेरके भण्डारसे चाहे जितना धन निकलता जाय वह खाली नहीं होता, सर्वदा भरा रहता है। उसी प्रकार खलोंके हृदयसे अनेक पाप, दुर्गुण, प्रत्यूह नूतन प्रकट होते जाते हैं; परन्तु तो भी हृदय उनसे भरा ही रहता है। (सु० द्विवेदीजी) (ग) (बैजनाथजी लिखते हैं कि) महाकुलक्षणी पुरुषमें अट्ठाईस अवगुण होते हैं। यथा, *'काम क्रोध*

युत क्रिया हत दुर्बादी अतिलोभ। लंपट लज्जाहीन गनि विद्याहीन अशोभ॥ आलस अति निद्रा बहुत दुष्ट दया करि हीन। सूम दरिद्री जानिए रागी सदा मलीन॥ देत कुपात्रहि दान पुनि मरण ज्ञान दृढ़ नाहिं। भोगी सर्व न समुझई कछु शास्त्रन के माहिं॥ अति अहार प्रिय जानिए अहंकारयुत देखु। महा अलक्षण पुरुषमें ये अट्ठाइस लेखु॥' इन सब अवगुणोंके होनेसे अवगुणका धनी कहा।

नोट—३ *'तेज कृसानु, रोष महिषेस, 'अघ अवगुन धन धनी'*—'कुबेर'। यहाँ उपमानके गुण उपमेयमें स्थापित करनेसे 'द्वितीय निदर्शना अलङ्कार' है।*'अघ अवगुन धन धनी'* में रूपक भी है।

उदय केत सम हित सब ही के। कुंभकरन सम सोवत नीके॥ ६॥

शब्दार्थ—केत (केतु)=एक प्रकारका तारा जिसके साथ एक प्रकाशकी पूँछ दिखायी देती है। इसे पुच्छल तारा, बढ़नी, झाड़ू आदि भी कहते हैं। इस तरहके अनेक तारे हैं, इनकी संख्या अनिश्चित है। केतुपुच्छमें स्वयं प्रकाश नहीं होता। यह स्वच्छ, पारदर्शी और वायुमय होता है जिसमें सूर्यके सान्निध्यसे प्रकाश आ जाता है। यह अपने उदयकालहीमें वा उदयके पन्द्रह दिन पीछे शुभ या अशुभ फल देता है। कुंभकरन (कुम्भकर्ण)=रावणका मँझला भाई। नीके=अच्छा।

अर्थ—सभीके हितमें ये केतुके समान उदय हो जाते हैं। [वा, इनका उदय (=बढ़ती, वृद्धि वा उन्नति) सभीके हितके लिये केतुके समान है।] कुम्भकर्णके समान इनका सोते ही रहना अच्छा है॥ ६॥

नोट—१ *'उदय केत सम'* इति (क) केतु नामक तारागणोंमेंसे अनेक शुभ भी हैं। यथा—'**धूमाकारा शिखा यस्य कृत्तिकायां समाश्रिता। दृश्यते रश्मिकेतुः स्यात्सप्ताहानिशुभप्रदः॥**' (मयूरचित्र) कोई-कोई ऐसे हैं कि वे जिस नक्षत्रपर उदय होते हैं उसके देशका नाश करते हैं, अन्यका नहीं। यथा—'**अश्विन्यामश्वकं हन्ति याम्ये केतुः किरातकान्। बह्नौकलिङ्गनृपतीन् रोहिण्यां शूरसेनकान्॥**' इसके अनुसार भाव यह होगा कि खलोंकी बढ़ती होती है तो सभी अपने हितकी हानि समझकर डर जाते हैं। चाहे वे किसीका हित भी करें तो भी उनसे सब डरते ही हैं। (वै०) (ख) यदि *'केत'* से केवल उस अधम ग्रहका अर्थ लें जिसका उदय संसारको दुःख देनेवाला होता है, जो अशुभ ही होता है। यथा—*'दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥'* (७। १२१) तो भाव यह होगा कि जहाँ किसीका हित होते हुए देखते हैं वहाँ केतुके समान जा प्रकट होते हैं। केतु जहाँ प्रकट होता है, वहाँकि राजा-प्रजाकी हानि होती है। वैसे ही इनके पहुँचनेसे उसके हितकी हानि हो जाती है। ये इसीलिये पहुँचते हैं कि उसके हितका नाश हो वा इनके प्रकट होनेसे उसे हानिका भय होता है। (पं० रामकुमारजी) अथवा (ग) (कोष्ठकान्तर्गत अर्थके अनुसार) भाव यह है कि यदि इनका उदय हुआ अर्थात् भाग्यवश इनको कुछ ऐश्वर्य, बल या अधिकार मिल गया तो सभीके हितमें बाधा पड़ने लगती है, जैसे केतुके उदयसे संसारको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं।

नोट—२ इस चरणके और अर्थ ये किये जाते हैं। (क) सभीके लिये इनका उदय (वृद्धि) केतुके समान (हानिकारक) है। (यहाँ 'हित'=लिये।) (ख) उनका उदय केतुकी तरह सभीका समान (एक-समान (हानिकारक) है। (यहाँ 'हित'=लिये।) (ख) उनका उदय केतुकी तरह सभीका समान (एक-सा) हित करनेवाला है। (यह व्यंग है। इसमें ध्वनि यह है कि ये सभीका अहित करते हैं।) (=सदृश अहित) मानकर ऐसा अर्थ करते हैं।]

नोट—३ *'कुंभकरन सम सोवत नीके'* इति। (क) कुम्भकर्ण तपस्या करके चाहता था कि यह वर प्राप्त करूँ कि छः महीना जागूँ तो केवल एक दिन सोऊँ। जब ब्रह्माजी इसके पास आये तो इसे देखकर विस्मित हो गये और सोचने लगे कि *'जौं एहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू॥'* तब उन्होंने *'सारद प्रेरि तासु मति फेरी। मांगेसि नींद मास षट केरी॥'* (१। १७७) जगत्‌की रक्षाके लिये उन्होंने उसकी मति फेर दी जिससे उसने छः महीने नींद हो चुकनेपर एक दिनका जागरण माँगा; नहीं तो संसार चौपट हो जाता। (ख) भाव यह है कि जब इनकी बढ़ती जगत्‌के लिये केतुके समान अहितकारी

है तब इनका सोते ही रहना अच्छा है। इनका ऐश्वर्यहीन, दरिद्र, दुःखी, शोचग्रस्त हो दबे पड़े रहना इत्यादि 'सोते रहना' है। क्योंकि तब जगत् इनके उपद्रवसे बचा रहेगा। इनके मर-मिटनेसे जगत्का भला है। जैसे कुम्भकर्णके जागनेसे संसारके चौपट होनेकी सम्भावना थी वैसे ही इनके उदयसे संसारके अकल्याणकी संभावना है। अतः ये सोते ही रहें। पुनः, (ग) पूरी अर्धालीका अन्वय इस प्रकार करें।—(उनका) 'उदय केतु सम (है) सबहीका हित (उनके) कुम्भकर्णसमान नीके (भलीभाँति) सोते ही रहनेमें है।' भाव यह है कि जैसे केतुके अस्त होनेहीसे वा उदय न होनेहीसे संसारकी भलाई है और कुम्भकर्णकी गहरी दीर्घकालकी नींदसे ही संसार सुखी रहता था, वैसे ही इनका मरे-मिटे रहना, कभी वृद्धि न होना, सदा आपत्तिरूपी गहरी नींदमें पड़े रहना ही जगत्के लिये हितकर है। पुनः, (घ) बाबा हरीदासजी अर्थ करते हैं कि 'कुम्भकर्णके समान ये नीके पदार्थसे अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदिसे सोते रहते हैं अर्थात् उन्हें भूले रहते हैं। *'सोवत नीके'* कहकर यह भी जनाया कि जीवहिंसा, परपीड़ामें आसक्त रहना उनका जागना है।' (शिला)

पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं॥ ७॥

शब्दार्थ—परिहरना=छोड़ देना, त्याग देना। हिम उपल=बर्फका पत्थर, ओले। कृषी (कृषि)=खेती, फसल। दलि=दलकर, नाश करके। गरना=गलना, घुल जाना।

अर्थ—वे दूसरेका काम बिगाड़नेके लिये अपना शरीरतक छोड़ देते हैं; जैसे ओले खेतीका नाश करके (आप भी) गल जाते हैं॥ ७॥

नोट—१ सन्त दूसरेके 'काज' के लिये, पर अकाजकी रक्षामें, शरीरतक छोड़ देते हैं; जैसे गृध्रराज जटायुने। उसीके विपरीत खल पर 'अकाज' के लिये तन त्याग देते हैं जैसे कालनेमि और मारीचने किया। २—इस अर्धालीके जोड़की अर्धाली उत्तरकाण्डमें यह है—*'परसंपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥'* (१२१। १९) ३—*'पर अकाज'* पहले भी कहा है। यथा—*'पर अकाज भट सहसबाहु से।'* अर्थात् प्रथम बताया कि पराया काज बिगाड़नेके लिये सहस्रबाहुके समान पुरुषार्थ करते हैं। जब उतने पुरुषार्थसे भी अकाज न हुआ तब क्या करते हैं यह यहाँ बताते हैं कि *'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं।'* अर्थात् उसके लिये शरीरतककी चिन्ता नहीं करते, तन त्यागकर अकाज करते हैं। 'पराई बदशगूनीके लिये नाक कटाना' मुहावरा है। अपनी नाक कटे तो कटे पर दूसरेको अपशकुन अवश्य हो। वही भाव यहाँ है। ४—*'जिमि हिम उपल'''''* इति। यहाँ प्रथम साधारण बात कहकर फिर विशेषसे समता देनेसे 'उदाहरण अलङ्कार' है। ५—*'परिहरहीं'* और *'गरहीं'* बहुवचन हैं; क्योंकि ये सब लक्षण 'खलगण' के कहे गये हैं। एक-दो ओलोंसे खेतीका नाश नहीं हो सकता, जब बहुत-से ओले गिरते हैं तभी खेतीका नाश होता है वैसे ही बहुत-से खल मिलकर पर अकाज करते हैं। ६—मानसपत्रिकाकार *'हिम उपल'* को दो शब्द मानते हैं। *हिम* =पाला। *उपल* =पत्थर=ओला। अर्थात् 'जैसे हिम और उपल दोनों एक-सा नहीं रहते; थोड़े ही काल बाद नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही खलोंका नाश तो होगा ही पर खेद इतना ही है कि ये औरोंको बरबाद कर देते हैं। यथा—*'आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥'* (७। १००)

बंदौं खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ परदोषा॥ ८॥
पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहसदस काना॥ ९॥

शब्दार्थ—जस=जैसा, समान, तुल्य। बदन=मुख। बरनइ=वर्णन करता है। पुनि (पुनः)=फिर, तत्पश्चात्। प्रनवौं=प्रणाम करता हूँ। काना (कान)=सुननेवाली इन्द्रिय। यहाँ 'सरोषा', 'सहस बदन', 'परदोष' 'पर अघ' शब्द श्लिष्टपद हैं। अर्थात् इनके दो-दो अर्थ हैं, एक अर्थ खलपक्षका और दूसरा अर्थ साधारण दूसरे पक्षका है। जो निम्न चार्ट (नक़शा) से स्पष्ट हो जायगा।

शब्द	खलपक्षका अर्थ	साधारण दूसरे पक्षका अर्थ
सरोषा	=सूरता वा जोशसहित। =क्रोधपूर्वक, रोषसहित। =हर्षपूर्वक। यथा—*'सर्वस देउँ आजु सहरोसा।'* (१। २०८) *'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।'* (३। ४३)	=सहरोषा=सहर्ष=प्रसन्नतापूर्वक। अथवा, (यदि 'सरोषा' को शेषका विशेषण मानें तो) प्रलयकालीन क्रोधयुक्त। (प्रलयके समय शेषजी रोष करते हैं।)
सहस बदन	स हास्य (हँसते, प्रसन्न) मुखसे। वा, हजार मुखोंसे।	हजार मुखोंसे
परदोष	पराये दोषोंको। पर=दूसरेका।	दोषोंसे परे (दूर वा अलग) भगवान् (का यश)
पर अघ	पराये पापोंको	अघसे परे अर्थात् अनघ, निष्पाप भगवान् (का यश)

शेषजी, पृथुजी—इनकी कथाएँ आगे टिप्पणीमें दी गयी हैं।

अर्थ—मैं खलोंको शेषजीके समान (मानकर) प्रणाम करता हूँ, जो हजार मुखोंसे 'सरोष' 'परदोष' का वर्णन करते हैं॥ ८॥ फिर उनको राजा पृथुके समान (जानकर) पुनः प्रणाम करता हूँ, जो दस हजार कानोंसे 'पर अघ' को सुनते हैं॥ ९॥

नोट—१ खलगणकी वन्दना करके अब खलकी वन्दना करते हैं। सन्त-समाजको तीर्थराजकी उपमा दी थी, वैसे ही यहाँ खलको त्रैलोक्यके बड़े-बड़े राजाओंकी उपमा देकर वन्दना करते हैं; अर्थात् 'खल राजा' की वन्दना करते हैं। यहाँतक खलगणके गुण कहे, अब खलराजाओंके गुण कहते हैं।

नोट—२ *'जस सेष सरोषा।'''* इति। (क) शेषजीके हजार मुख और दो हजार जिह्वाएँ हैं, जिनसे वे नित्य-निरन्तर प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक भगवान्के गुण-गान करते रहते हैं। खलोंके एक ही मुख है, एक ही जीभ है पर वे एक ही जिह्वासे दो हजार जिह्वाओं और एक ही मुखसे एक हजार मुखोंके समान जोश, उत्साह और हर्षपूर्वक पराये दोषोंको नित्य-निरन्तर कहते रहते हैं। (इस भावार्थमें *'सहरोषा'* का एक ही अर्थ दोनों पक्षोंमें लिया गया है। इस तरह यहाँ 'पूर्णोपमा अलङ्कार' है।) तात्पर्य कि पर-दोषवर्णन करनेमें वे कभी थकते नहीं। पुनः, (ख) *'जस सेष सरोषा'*=जो प्रलयकालीन शेषके समान रोषयुक्त हैं (उनकी मैं वन्दना करता हूँ।)=क्रोधमें भरे हुए शेषके समान। भाव यह कि शेषजी सरोष नहीं हैं पर वे सदा रोषयुक्त ही रहते हैं। (वीरकवि) पुनः, (ग) शेषजी हर्षपूर्वक हरियश हजार मुखोंसे गाते हैं और खल क्रोधपूर्वक पराये दोषोंको कहते हैं। पुनः, (घ) *'खल जस'* ऐसी पदयोजनासे अर्थ होगा कि 'कुपित शेषनागसदृश खलोंके यशकी वन्दना करता हूँ।' (सु० द्विवेदीजी), यहाँ *'जस'*=यश। पंजाबीजीने भी 'यश' अर्थ किया है। पुनः, (ङ) शेष हजार मुखसे हरियश कहते हैं और खल हँसते हुए मुखसे पराये दोषोंका वर्णन करते हैं। (सु० द्विवेदीजी) जब *'सरोषा'* को शेषका विशेषण मानेंगे तब दूसरे चरणका अर्थ इस प्रकार पृथक् होगा। (च) *'बरनइ परदोषा'* का ध्वनित भाव यह है कि अपने दोषोंपर कभी भी दृष्टि नहीं डालते। कारण कि ऐसोंको अपना दोष सूझता ही नहीं। इसके विपरीत जो अपने दोष देखा करते हैं, अपने दोषोंको कहते हैं, उन्हें सदा दूसरोंमें गुण ही देख पड़ते हैं। अपना दोष कह डालनेसे उसका पाप भी यदि जाता नहीं रहता तो भी घट तो जाता ही है और क्षमा भी कर दिया जाता है; इसीसे कहा है, *'तुलसी अपने राम से कह सुनाउ निज दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥'*

नोट—३ *'सहस बदन बरनइ परदोषा।'* 'शेषजी' इति। कद्रूसे कश्यपजीके हजार नाग पुत्र हुए। विनताको दासी बनानेके लिये कद्रूने अपने पुत्रोंको आज्ञा दी कि तुम शीघ्र काले बाल बनकर सूर्यके घोड़ेकी पूँछ ढक लो। जिन पुत्रोंने आज्ञा नहीं मानी, उनको उसने शाप दे दिया कि जनमेजयके यज्ञमें

भस्म कर दिये जाओगे। तब शेषनागने अन्य सर्पोंका साथ छोड़कर कठिन तपस्या प्रारम्भ की। ब्रह्माजीके आनेपर उन्होंने माँगा कि मेरी बुद्धि धर्म, तपस्या और शान्तिमें संलग्न रहे। ब्रह्माजीने कहा कि मेरी आज्ञासे तुम प्रजाके हितके लिये इस पृथ्वीको इस तरह धारण करो कि यह अचल हो जाय। तुम्हारी बुद्धि सदा धर्ममें अटल बनी रहे। शेषजीने ब्रह्माजीकी आज्ञाका पालन किया। (महाभारत आदि पर्व अ० ३६) भगवान्‌की शय्या बनने और निरन्तर उनका गुण गान करनेका उल्लेख इस प्रसङ्गमें नहीं है। श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ० ७ में इनका निरन्तर गुणगान करना पाया जाता है। यथा— **'नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥'** (४१) अर्थात् उन महापराक्रमी पुराणपुरुषकी मायाके प्रभावका अन्त तो मैं (ब्रह्मा) और तुम्हारे अग्रज सनकादि भी नहीं जानते, फिर औरोंका तो कहना ही क्या? दससहस्र फणवाले आदिदेव शेषजी भी उनका गुणगान करते हुए अभीतक उनका पार नहीं पा सके। (ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है।)

नोट—४ श्रीपृथुजी—जब राजा वेन प्रजामें अधर्मका प्रचार करने लगा और महर्षियोंके समझानेपर भी न माना तब ऋषियोंने भगवान्‌की निन्दा करनेवाले उस दुष्टको अपने हुङ्कारमात्रसे (अथवा महाभारत शान्तिपर्वके अनुसार अभिमन्त्रित कुशाओंसे) मार डाला। फिर अराजकतासे रक्षा करनेके लिये उन्होंने प्रथम उसकी बायीं जङ्घाको मथा जिससे 'निषाद' की उत्पत्ति हुई। उसके जन्मसे वेनके पाप दूर हो गये। तब उन्होंने वेनके हाथोंका मन्थन किया जिससे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा उत्पन्न हुआ। दाहिनेसे पृथुकी और बाएँसे अर्चिकी उत्पत्ति हुई। पृथुजीके दक्षिण हस्तमें विष्णुभगवान्‌की हस्तरेखाएँ और चरणोंमें कमलका चिह्न देखकर महर्षियोंने जान लिया कि ये विष्णुके अंशावतार हैं, क्योंकि जिसके हाथमें अन्य रेखाओंसे बिना मिला हुआ चक्रका चिह्न होता है वह भगवान्‌का अंश हुआ करता है। अर्चि लक्ष्मीजीके अवतार हैं। (भा० ४। १५। १—१०) श्रीपृथुजीके शरीरपर दिव्य कवच सुशोभित था, कमरमें तलवार, कन्धेपर अजगव नामक धनुष तथा बाण थे। वे वेद-वेदाङ्गोंके ज्ञाता और धनुर्विद्यामें पारङ्गत थे। प्रकट होनेपर उन्होंने ऋषियोंसे कहा, 'मुझे धर्म और अर्थका निर्णय करनेवाली सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त है। इसके द्वारा मुझे क्या करना चाहिये, यह ठीक-ठीक बताइये।' देवताओं और महर्षियोंने कहा 'जिस कार्यमें तुम्हें धर्मकी स्थिति जान पड़े उसीको निःशङ्क होकर करो। प्रिय-अप्रियकी चिन्ता न करके सब जीवोंके प्रति समान भाव रखो। काम-क्रोध-लोभ-मानको दूरसे नमस्कार करो। सर्वदा धर्मपर दृष्टि रखो और जो धर्मसे विचलित होता दिखायी पड़े उसे अपने बाहुबलसे दमन करो।.........'। श्रीशुक्राचार्यजी उनके पुरोहित बने, बालखिल्योंने मन्त्रीका काम सँभाला। इन्द्र, देवगण, भगवान् विष्णु, प्रजापति, ऋषि, ब्राह्मण और आङ्गिरस तथा देवताओंके साथ ब्रह्माजी (सब) ने मिलकर पृथुजीका राज्याभिषेक किया। कुबेर, इन्द्र, पवन, ब्रह्मा आदि सभीने उन्हें दिव्य-दिव्य भेटें दीं, जिनका वर्णन (भा० ४। १५। १४—२०) में है। उनके राज्यमें बुढ़ापा, दुष्काल, आधि-व्याधि तथा सर्प, चोर या आपसमें एक-दूसरेसे किसी प्रकारका भय नहीं था। पृथ्वी बिना जोते हुए अन्न देती थी। उन्होंने पृथ्वीसे सहस्र प्रकारके धान्य दुहे थे। उन्होंने लोकमें धर्मकी वृद्धि और सारी प्रजाका मनोरञ्जन किया था, इसीसे वे 'राजा' नामसे प्रसिद्ध हुए। ब्राह्मणोंका क्षतिसे त्राण करनेके कारण वे 'क्षत्रिय' हुए तथा उन्होंने धर्मानुसार पृथ्वीको प्रथित (पालित) किया इससे मेदिनीका नाम 'पृथ्वी' हुआ। (महाभारत शान्ति पर्व; ब्रह्मपुराण, भा० ४। १४-१५) श्रीपृथुजीके पूर्व भूमण्डलपर पुर-ग्रामादिकी कल्पना नहीं थी। **'प्राक्पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना।'** (भा० ४। १८। ३२) उन्होंने पृथ्वीको समतल कर पुर, नगर, दुर्ग आदिकी योजनाकर सारी प्रजाको यथायोग्य बसाया।

पूर्ववाहिनी सरस्वती-तटपर ब्रह्मावर्तक्षेत्रमें श्रीपृथुमहाराजने सौ अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ग्रहण की। निन्नानबे यज्ञ पूरे होनेपर अन्तिम यज्ञमें इन्द्रने विघ्न किये। अनेक रूप धारण कर-करके उसने घोड़ा चुराया। कई बार ऐसा करनेपर पृथुने इन्द्रको भस्म करनेका निश्चय किया। ज्यों ही उसके भस्म करनेके लिये स्रुवा लेकर वे आहुति देनेको हुए, ब्रह्माजीने आकर उनको रोक दिया। उनकी आज्ञासे राजाने अनुष्ठान निन्नानबे

ही यज्ञोंसे समाप्त कर दिया, इन्द्रसे मित्रता कर ली। अवभृथस्नानसे निवृत्त होनेपर भाग पानेवाले वरदायक देवताओंने इच्छित वरदान दिये। तदनन्तर भगवान् विष्णु इन्द्रसहित वहाँ आये और उनके गुण और शीलपर प्रसन्नता प्रकट करके उनसे वर माँगनेको कहा। (भा० ४। २०। १६) उन्होंने माँगा, **'न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥'** (भा० ४। २०। २४) अर्थात् हे नाथ! जहाँ महान् पुरुषोंके हृदयसे उनके मुखद्वारा बाहर निकला हुआ आपके चरणकमलका (कीर्तिरूप) मकरन्द नहीं है, उस पदको मैं कभी नहीं प्राप्त करना चाहता। बस, मेरा वर तो यही है कि (अपने सुयशसुधाका पान करानेके लिये) आप मुझे दस सहस्र कान दें।

नोट—५ ***'पृथुराज समाना'*********' इति। श्रीपृथुमहाराज दो कानोंसे भगवद्यश दस हजार कानोंके बराबर सुनते हैं। वैसे ही खल पराये पापोंको इस चावसे और ऐसे ध्यान लगाकर सुनते हैं मानो इनके कानोंमें दस हजार कानोंकी शक्ति है।

सु० द्विवेदीजीका मत है कि **'खलपक्षमें *'सहस दस काना'* में 'कान' का अर्थ है 'कानि', 'ग्लानिसे'।** अर्थात् दूसरोंके पापोंके ऊपर दुःख भाव दिखलानेके लिये हजारों ग्लानिसे सुनते हैं और भीतर बड़ा ही सुननेका चाव है।'

बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥ १०॥
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा। सहस नयन पर दोष निहारा॥ ११॥

शब्दार्थ—**सक्र**=इन्द्र। **बिनवौं**=विनय वा प्रार्थना करता हूँ। **तेही**=उसको। **संतत**=सदा। **सुरानीक** = सुरा+नीक=मदिरा अच्छी लगती है।=अच्छी मदिरा। (ये अर्थ खलपक्षमें हैं)। **सुरानीक**=सुर+अनीक=देवताओंकी सेना (इन्द्रके पक्षमें)। वा सुरा=सोम। **हित**=प्यारी।=कल्याणकारक। **बज्र**=इन्द्रका शस्त्र। 'परदोष' भी श्लिष्ट शब्द है। **पर दोष**=दोषसे परे=भगवान्। **पर दोष**=दूसरेके दोष।

अर्थ—फिर इन्द्रके समान (मानकर) इनकी विनय करता हूँ, जिनको ***'सुरानीक'*** सदा प्रिय और हितकर है॥ १०॥ जिन्हें वचनरूपी वज्र सदा प्रिय लगता है और जो हजार नेत्रोंसे 'परदोष' को देखते हैं॥ ११॥

नोट—१ ***'सक्र सम''''''सुरानीक हित जेही'*** इति। (क) इन्द्रको देवताओंकी सेना प्रिय और खलोंको अच्छी तेज मदिरा प्रिय है। इन्द्र सोमपान करते हैं, खल मद्य पीते हैं। सू० प्र० मिश्रजी खलपक्षमें ***'सुरानीक हित'*** का अर्थ 'मदिराकी रुचि हित है' करते हैं और पं० रामकुमारजी 'मदिरा नीक (अर्थात् प्रिय) लगती है और हित (अर्थात् गुण) है' ऐसा अर्थ करते हैं। 'सुरा' मदिरा, गाँजा, भाँग, अफीम इत्यादि सब प्रकारके अमलों (नशाओं) की संज्ञा है। देवता जो 'सोम' पीते हैं उसे भी 'सुरा' कहते हैं। दुष्टोंको मदिरा प्रिय होनेका कारण भी है। वे परद्रोहमें तत्पर भी रहते हैं, इससे वे कभी निश्चिन्त नहीं रह सकते। यथा—***'परद्रोही कि होइ निःसंका।'*** (७। ११२) वैद्यकमें शोक और चिन्ताकी ओषधि अमल (मदिरा आदि) बतायी गयी है। डाक्टर भी बहुत कष्टमें रोगीको ब्राण्डी नामकी मदिरा देते हैं। ये मदिरापान करके नशेमें पड़े रहते हैं। अतएव हितकर कहा। (ख) मा० मा० कार ***'नीक'*** को ***'हित'*** का विशेषण मानते हैं। वे कहते हैं कि खलोंको मदिरा प्रिय है, यह खास लक्षण खलोंका नहीं है; कितने ही लोग मद्य नहीं पीते तथापि परनिन्दा आदि खलोंके अवगुण उनमें रहते हैं। अर्थ—'जिसे नीक हित सुरा समान है'। भाव यह है कि समुद्रमन्थनके समय सुरतरु, ऐरावत आदिको इन्द्रने ले लिया, जब मदिरा निकली तब उसको ग्रहण न किया, क्योंकि देवताओं और ब्राह्मणोंके लिये वह अग्राह्य है। यथा—***'बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति। जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥'*** (२। १४४) इसी प्रकार खलोंको ***'नीक हित'*** अर्थात् उत्तम परहित अग्राह्य है। इस अर्थमें ***'हित'*** का अर्थ ***'परहित'*** लिया गया है; अथवा, ***'नीक हित'*** का अर्थ ***'पर हित'*** लिया गया जान पड़ता है क्योंकि 'अपने हित' से 'परहित'

को उत्तम कह सकते हैं। (ग) बाबा हरिदासजी *'सुरानीक'* का खलपक्षमें 'मद्यकी अनीक (सेना) अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सरादि ऐसा अर्थ करते हैं।

नोट—२ *'बचन बज्र.....'* इति। (क) इन्द्रको वज्र प्रिय है और इनको वज्रसमान दूसरोंका हृदय विदीर्ण करनेवाले, थर्रा देनेवाले कठोर वचन प्रिय हैं। पुनः भाव कि खल वचनसे ही वज्रका-सा घात करते हैं। वज्रसे पर्वत टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, इनके वचन धैर्यवानोंको भी दहला देते हैं, कलेजा फाड़ देते हैं। (ख) *'सदा पिआरा'* का भाव कि इन्द्र तो वज्र सदा धारण नहीं किये रहते पर ये वचनरूपी वज्र सदा धारण किये रहते हैं, क्षणभर भी नहीं त्यागते। (पं० रा० कु०) (ग) *'सहस नयन पर दोष निहारा'* इति। इन्द्रने श्रीरामविवाहके समय हजारों नेत्रोंसे 'परदोष' (दोषोंसे परे) श्रीरामचन्द्रजीके दूलहरूपका दर्शन किया और अपनेको धन्य माना। यथा—*'रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥ देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥'* (१। ३१७) वैसे ही खल पराया दोष देखनेमें दो ही नेत्रोंसे हजारों नेत्रोंका काम लेते हैं और आनन्दित होते हैं कि हमारी तरह कोई दूसरा परछिद्र नहीं देख सकता। परदोष देखनेमें अत्यन्त आनन्द प्राप्त करते हैं।

नोट—३ यहाँतक खलको तीन बड़े-बड़े राजाओं (नागराज शेषजी, पृथुराजजी और इन्द्र) के समान कहा। शेषजीसे पाताल, पृथुराजसे भूतल और इन्द्रसे स्वर्ग अर्थात् तीनों लोकोंके अधिष्ठाताओंकी समता देकर यहाँ वन्दना की गयी। बड़ोंकी समता देकर वन्दना की; क्योंकि बड़े लोग अपने गुणोंसे बड़े हैं और खल अपने अवगुणोंसे। (पं० रा० कु०)

नोट—४ खलमें तीन प्रकारके दोष पाये, वही यहाँ दिखाये। इनका कहना, सुनना और देखना तीनों दोषमय हैं। यथा—*'बरनइ पर दोषा', 'बचन बज्र सदा पिआरा'; 'पर अघ सुनइ', 'पर दोष निहारा'।* ये तीनों खलमें एक ही ठौर मिलते हैं पर तीनों लोकोंमें इन तीनों बातोंकी समताके लिये कोई एक ही प्राणी न मिला, एक-एक लोकमें खलोंके एक-एक कर्मकी एक-ही-एक उपमा मिली; अतएव तीन कर्मोंके लिये तीन दृष्टान्त दिये। पुनः, इन तीनकी उपमा दी क्योंकि ये तीनों वन्दनीय हैं, खल यह पढ़ या सुनकर प्रसन्न होंगे कि हमें तीनों लोकोंके बड़े-बड़े राजाओंकी उपमा दी गयी है।

दो०—उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं[१] खल रीति।
जानि[२] पानि जुग जोरि जन बिनती करइ[३] सप्रीति॥ ४॥

शब्दार्थ—उदासीन=जो विरोधी पक्षोंमेंसे किसीकी ओर न हो; जो किसीके लेने-देनेमें न हो; जिसका न कोई शत्रु है न मित्र। अरि=शत्रु। मीत=मित्र। रीति=स्वभाव, परिपाटी। पानि (पाणि)=हाथ। जन=दास।

अर्थ—उदासीन (हो), शत्रु (हो अथवा), मित्र (हो, इन तीनों) का भला सुनकर जलते हैं, (यह) खलका स्वभाव (है, ऐसा) जानकर दोनों हाथ जोड़कर यह जन प्रेमपूर्वक उनसे विनय करता है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'उदासीन अरि मीत हित.....'* इति। (क) पूर्व बता आये कि वे *'परहित हानि'* को लाभ समझते हैं। यथा—*'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे।'* अब बताते हैं कि *'परहित'* होनेमें उनको जलन होती है। (ख) *'सुनत'* से जनाया कि 'सुन' भर लें कि किसीका भला हुआ तो जल उठते हैं, भला हुआ हो या न हुआ हो; देख लें कि भला हुआ है, तब तो न जाने क्या हो जाय? (ग) *'उदासीन अरि मीत'* कहनेका भाव कि शत्रुका हित देखकर तो प्रायः संसारमें सभीको जलन होती है पर मित्रका भला सुनकर तो सबको प्रसन्नता होती है। परन्तु उदासीन और मित्रका भी भला सुनकर जलन हो, यह खलहीका

१—जरत—१६६१। 'त' का 'हिं' दूसरी स्याहीसे बनाया गया है। अन्य सबोंमें 'जरहिं' पाठ है। २-जानि—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। जानु—१६६१ ('नु' का 'नि' बनानेकी चेष्टा की गयी है। स्याही वैसी ही है।) रा०, प्र०, वै० पं०। ३-करउँ—ना० प्र० सभा। करइ—प्रायः सर्वत्र। 'जन' के साथ 'करइ' उत्तम और ठीक है।

स्वभाव है। सन्तोंका स्वभाव इसके प्रतिकूल है। सन्त सबका हित सुनकर प्रसन्न होते हैं और शत्रुतकका दुःख सुनकर दुःखी होते हैं। यथा—*'परदुख दुख सुख सुख देखे पर।'* (७। ३८) (घ) *'जरहिं'* अर्थात् उनके हृदयमें सन्ताप हो जाता है, हाय समा जाती है। यथा—*'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी॥'* (७। ३९)

'जानि पानि जुग जोरि जन' इति

पाठान्तर—*'जानु पानि जुग जोरि जन'* पर विचार। काशिराजकी छपी प्रतिमें *'जानु'* और भागवतदास, रामायणीजी, पं० रामवल्लभाशरणजी आदिका पाठ *'जानि'* है। *'जानु'* का घुटना अर्थ गृहीत है। परन्तु यह सङ्गत नहीं जान पड़ता; क्योंकि सनातन आर्य मर्यादा साष्टाङ्ग प्रणिपात या बद्धाञ्जलि होनेका ही है, बद्धजानु होनेका नहीं, और न कहीं किसी पौर्वात्य काव्यमें उसका वर्णन ही है। हाँ, बद्धजानु होकर बैठनेकी एक शिष्ट मुद्रा है, वीरासनका एक आधुनिक भेदमात्र है, जो अनार्य यवनादि बादशाहोंमें अधिक प्रचलित था। क्षत्रियोंकी सभामें अब भी उसी आसनसे प्राय: बैठते हैं। अतः वह एक आसनविशेषमात्र है। परन्तु विनयप्रसङ्गमें सिवा साष्टाङ्ग प्रणिपात करने या बद्धपाणि होनेके और कोई वर्णन नहीं मिलता। यदि *'जानि'* का *'जानु'* पाठान्तर भी माना जाय तो भी उसका अर्थ 'जानना' धातुके ही किसी रूप-भेदमें ग्रहण करना उचित है। घुटनापरक 'जानु' का अर्थ बड़ा भद्दा हो जाता है। 'जानने' धातुमें 'जानु' का विधि क्रियापदात्मक अर्थ करना अच्छा होगा। अर्थात् 'शत्रु-मित्र-उदासीन इनके कल्याण-साधनको देखकर दुःखित और संतप्त होते हैं, ऐसा खलोंका स्वभाव जानिये।' अतः इस प्रकारकी प्रकृतिके आवरणमें क्रीडा करनेवाले (राममय) प्राणियोंको भी अनुरागपूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ, उनके निकट भी सस्नेह और सच्ची नम्रता प्रकट करता हूँ। परन्तु 'जानि' पाठ ही अधिक सङ्गत और स्वाभाविक है। यह शब्द और अर्थ, दोनों ही भावोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि एक तो *'पानि'* से *'जानि'* का प्रास ठीक बैठ जाता है, दूसरे अर्थमें स्वाभाविक है (ऐसा खलस्वभाव जानकर)। अतः हमको भी 'जानि' ही पाठ अभिप्रेत है।

पं० सुधाकर द्विवेदी, पं० रामकुमार और पं० सूर्यप्रसाद मिश्रने भी यही पाठ उत्तम माना है। पं० सूर्यप्रसाद *'जानु पानि जुग जोरि'* का अर्थ 'घुटना टेककर और हाथ जोड़कर' करते हुए लिखते हैं कि 'घुटना टेकनेका भाव यह है कि हम लाचार होकर प्रणाम करते हैं अर्थात् वही घुटना टेकता है जिसका कुछ भी किया नहीं हो सकता और हाथ भी वही जोड़ता है जिसका पुरुषार्थ नहीं चलता है। यह भाव बैजनाथजीकी टीका या रामायणपरिचर्यासे लिया गया है।

ग्रियर्सनसाहबने जो ताम्रपत्रवाला गोस्वामीजीका चित्र ना० प्र० सभाको दिया था और जो पं० रामेश्वर भट्टकी विनायकी टीका एवं श्रीरूपकलाजीकी भक्तमाल टीकामें भी है, उसमें गोस्वामीजीको 'दोजानू' (घुटना जोड़े) बैठे हुए दिखाया गया है। वह चित्र बहुत छोटी अवस्थाका है। यदि उसे ठीक मानें तो *'जानु'* पाठ भी ठीक हो सकता है यद्यपि किसी भी ग्रन्थमें इस प्रकारका प्रणाम सिवा यहाँके नहीं देखा जाता।

नोट—१ *'जन बिनती करइ'''''* इति। (क) *'जन'* का भाव कि दास तो सबको प्रिय होता है। यथा, *'सब के प्रिय सेवक यह नीती।'* (७। १६) अतः दास जानकर प्रेम रखेंगे। अथवा, मैं श्रीरामजी-का अनन्य दास हूँ और अनन्यका लक्षण ही है कि वह जगन्मात्रको प्रभुका रूप और अपनेको सबका सेवक मानते हैं, अतः उसी भावसे विनती करता हूँ। (ख) *'सप्रीति'* इति। भाव यह कि अहितकर्तापर प्रीति नहीं होती, परन्तु मैं प्रीतिसहित विनय करता हूँ। *'सप्रीति'* विनतीका कारण *'जरहिं खल रीति जानि'* में कह दिया है। अर्थात् यह तो खलोंका स्वभाव ही है, यह जानता हूँ। स्वभाव अमिट है। वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते तो मैं अपना (सन्त) स्वभाव क्यों छोड़ूँ ? पुनः, *'सप्रीति'* में वही भाव है जो पूर्व *'बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ'* ४ (१) के *'सतिभाएँ'* का है। वहाँ देखिये। पुनः, (ग) इस जगत्में अनेक रूपोंमें चित्र-विचित्र स्वभाव विशिष्ट होकर वह जगदीश्वर रम रहा है। कविवर गोस्वामीजी उन्हीं

विविध रूप स्वभावोंमें उसे देखकर सद्भावसे प्रणाम करते हैं। यही सिद्ध कवियोंकी भावना है। वे चराचरमें उसी आदि दम्पतिके दर्शन करते हैं, *'सियाराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* यहाँ गोस्वामीजी आसुरी सम्पत्तिविशिष्ट खलरूपमें उस तत्त्वकी छटाका वर्णन करते और उसको प्रणाम करते हैं। वे इसी भावसे साधुता एवं सरलतापूर्वक ही उसको नमस्कार करते हैं। यदि ऐसा न माना गया तो उनका यह नमस्कार व्यङ्ग्य-भावसे काकु कूटमय हो जायगा। जिसमें चापल्य और छल होता है और जो एक गम्भीर साधुके लिये अशोभित है। इसलिये गोस्वामीजी-सरीखे परम साधुका यह खलोंके प्रति नमस्कार सद्भावहीसे है और वह उसी दिव्य ज्ञानसे। (श्रीबिन्दुजी) पुनः, (घ) सुधाकर द्विवेदीजी इसका भाव यों लिखते हैं कि 'अर्थात् खल (खल जिसमें वैद्यलोग वनस्पति, हीरा इत्यादि कूटते हैं) के वशमें हो सभी कूटे जाते हैं, सभीका अङ्गभङ्ग हो जाता है। 'रलयोः सावर्ण्यात्'। खलसे खरका ग्रहण करनेसे खर (गदहों) अर्थात् मूर्खोंकी ऐसी रीति है यह अर्थ करना, ऐसे मूर्खोंको ब्रह्मा भी नहीं प्रसन्न कर सकते, मेरी क्या गिनती है, यह जानकर तुलसी जन-प्रीतिके साथ विनय करते हैं; अर्थात् व्याघ्र भी अपने बालकोंका पालन-पोषण करता है। सो मुझे जन जान मेरे ऊपर अनुग्रह करें'। (मा० प०) (ङ) बैजनाथजीका मत है कि 'जानु पाणि जोड़कर सप्रीति' विनती करते हैं, जिसमें वे हमारे काव्यके कहने-सुननेके समय अपने गुणोंका प्रकाश न करें। अर्थात् विद्वान् पण्डित हों तो भाषा मानकर अनादर न करें। कवि हों तो काव्यके दोष न निकालें और यदि अनपढ़ हों तो कुतर्क कर-करके दूसरोंका चित्त न बिगाड़ें; अपने मनमें सब रखे रहें मुखसे न निकालें; मेरे काव्यकी भलाई न करें तो बुराई भी न करें। (वै० वि० टी०)

सन्त और खल-स्वभाव

सन्त	खल
	उनके प्रति कविकी उक्तियोंकी एकता
सुजन समाज ...... करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी।	१ *'बहुरि बंदि खलगन*
	२ *सतिभाये', 'सप्रीति'*
'करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी'। अर्थात् कर्म-मन-वचनसे	३ *'जानि पानि जुग जोरि जन बिनती करइ सप्रीति।'* अर्थात् कर्म-वचन-मन-से
'जो जग जंगम तीरथराजू'।	४ *'पृथुराज समाना', 'शक्र सम' 'जस सेष'*
'बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं॥'	५ *'बायस पलिअहि अति अनुरागा॥ होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥'*
'संत सरल चित जगत हित जानि'	६ *'उदासीन अरि मीत हित ...... जानि'*
'बाल बिनय'	७ *'जन बिनती करइ'*
	८ *'बंदउँ संत असज्जन चरना'*
सन्तस्वभाव	खल स्वभाव
'सकल गुनखानी'	१ *'अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥'*
'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।'	२ *'जे परदोष लखहिं सहसाखी॥' 'सहस नयन पर दोष निहारा॥' 'पर अघ सुनहिं सहस दस काना॥' 'सहस बदन बरनइ परदोषा॥'*
'हरिहर कथा बिराजति बेनी।'	३ *'हरिहरजस राकेस राहु से॥'*
'अंजलिगत सुभ सुमन जिमि'	४ *'जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ॥'*

सन्त	खल
संत सरल चित जगत हित'	५ *'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति', 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे', 'परहित घृत जिन्हके मन माखी।' 'उदय केतु सम हित सबही के।'*
सन्त मन-वचन-कर्मसे परोपकार करते हैं। यथा— *'सन्त सरल चित जगत हित' 'हरिहर कथा बिराजति बेनी।' 'सहि दुख परछिद्र दुरावा।'*	६ खल मन-वचन-कर्मसे अपकार करते हैं। यथा— *'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं।' 'पर हित घृत जिन्हके मन माखी॥' 'बचन बज्र जेहि सदा पियारा।' 'जे परदोष लखहिं सहसाखी।'*

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा॥ १॥
बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ[1] कि कागा॥ २॥

शब्दार्थ—**दिसि** (सं०)=ओरसे, तरफसे। **निहोरा**=विनती, प्रार्थना। **तिन्ह**=वे। **ओर**=तरफ। **लाउब**=लावेंगे, लगावेंगे। **भोरा**=भोलापन, सिधाई, भूल। **न लाउब भोरा**=भोलापन न लावेंगे; अपना स्वभाव न छोड़ेंगे, चूकेंगे नहीं, धोखा न होने देंगे। **बायस**=कौवा। **पलिअहिं**=पालिये, पाला जाय। यथा—*'ए रखिअहिं सखि आंखिन्ह माहीं।'* (२। १२१) में **रखिअहिं**=रखिये; रख लिया जाय। **निरामिष**=बिना मांसका, मांसत्यागी, जो मांस न खाय। **आमिष**=मांस। **कागा** (काक)=कौआ। **कि**=क्या।

अर्थ—मैंने अपनी ओरसे विनती की है। वे अपनी ओरसे न चूकेंगे, (अर्थात् अपना स्वभाव न भूलेंगे या छोड़ेंगे)॥ १॥ कौवेको बड़े ही अनुरागसे पालिये, (तो भी) क्या कौवे कभी भी निरामिष हो सकते हैं (अर्थात् मांस खाना छोड़ सकते हैं)? (कदापि नहीं)॥ २॥

नोट—१ 'मैं अपनी दिसि कीन्ह' ······ इति। खलोंके गुण सुनकर यह शङ्का होती है कि 'जब वे किसीका भला नहीं देख सकते तो क्या वे ग्रन्थमें दोष लगानेसे चूकेंगे? कदापि नहीं! तो फिर उनकी विनती करना व्यर्थ हुआ'। इस शङ्काकी निवृत्ति इन चौपाइयोंमें की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि मैंने इसलिये विनय नहीं की कि वे मुझे छोड़ दें, क्योंकि मैं खूब समझता हूँ, मुझे विश्वास है कि स्वभाव अमिट है, वे अपना स्वभाव कदापि नहीं छोड़ेंगे जैसे कौवे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। भाव यह है कि जब वे अपने स्वभावसे नहीं चूकते तो हम भी सन्तस्वभावसे क्यों चूकें? उनका धर्म है निन्दा करना, हमारा धर्म है निहोरा करना। वे अपना धर्म करते हैं, हम अपना। [नोट—*'होहिं निरामिष कबहुँ कि'* में काकुद्वारा वक्रोक्ति अलङ्कार है अर्थात् कभी नहीं।]

नोट—२ इस चौपाईमें *'बायस'* और *'कागा'* में पुनरुक्तिके विचारसे किसी-किसी टीकाकारने 'पायस' पाठ कर दिया है। परन्तु शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठ *'बायस'* ही है। यही पाठ प्राचीन प्रतियोंमें मिलता है। यदि पुनरुक्ति दोष होता भी है तो उससे क्या बिगड़ा? ऋषिकल्प महाकविका यह आर्ष प्रयोग है। अतएव क्षम्य और उपेक्षणीय है। फिर पुनरुक्तिके सम्बन्धमें भी मतभेद है। गौड़जी कहते हैं कि 'यदि *'कागा'* शब्द न होता, तो *'होहिं निरामिष'* के लिये उसी पूर्वोक्त *'बायस'* को विवक्षित कर्त्ता मानना पड़ता; परन्तु *'कागा'* दे देनेसे विवक्षाकी आवश्यकता नहीं रह जाती। पुनरुक्ति दोष तब होता जब *'निरामिष होहिं'* क्रियाकी आवश्यकता *'बायस'* से ही पूर्ण हो जाती और भिन्न-भिन्न वाक्य न होते'। पं० सूर्यप्रसाद मिश्र लिखते हैं कि 'जो रामायण परिचर्यामें लिखा है कि *'बायस कागा'* में क्रिया-भेदमें पुनरुक्ति नहीं

१—कबहिं—१७२१, १७६२, छ०। कबहुँ—१६६१, १७०४, को० रा०।

है, यह बात ठीक नहीं क्योंकि किसी आचार्यने ऐसा प्रयोग नहीं किया है। यहाँ तो बायस और काग लिखा है, एक ही शब्द दो बार लिखा गया है। उसका यह कारण है कि उसके स्वभावके अमिट होनेकी दृढ़ताके लिये दो बार आया है और नियम भी है कि जब किसी शब्दकी विशेषता दिखलाना हो तब उसको दो बार भी कह सकते हैं। अथवा, यह द्विरुक्ति आनन्दकी है। जैसे ग्रन्थकार खलका विलक्षण स्वभाव देखकर आनन्दित हो गये, अतएव उनके मुखसे दो बार काग शब्द निकल गया'। सुधाकर द्विवेदीजी पुनरुक्तिकी निवृत्ति यों करते हैं कि *'कागा'* सम्बोधन है। अर्थात् हे काग-काग पालनेवाले! (कागमें लक्षणा करना, काकसे काकयुक्त पुरुष, 'कुन्ताः प्रविशन्ति' के ऐसा ग्रहण करना)। इस तरहसे दोषका शमन भी कई प्रकारसे किया जा सकता है। यह तो **'सदूषणापि निर्दोषा:'** है। किसी-किसी महात्माने *'का गा'* इस तरह *'कागा'* शब्दको तोड़कर पुनरुक्ति मिटानेका यत्न किया है और कोई कहते हैं कि *'कागा'* बड़ा काला कौवेका नाम है और *'बायस'* छोटे कौवेका नाम है, जिसके परमें कुछ ललाई होती है।

नोट—३ इस चौपाईसे मिलता हुआ श्लोक प्रसङ्गरत्नावलीमें यह है, **'न विना परवादेन रमते दुर्जनो जनः। काकः सर्वरसान्भुङ्क्ते विनाऽमेध्यं न तृप्यति॥'** अर्थात् बिना दूसरेकी निन्दा किये दुर्जनको सन्तोष नहीं होता, कौवा सब प्रकारके रस खाता है फिर भी बिना विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुके खाये सन्तुष्ट नहीं होता। यह व्यासजीका वाक्य है।

नोट—४ शङ्का—वायस तो अनेक अवगुणोंका स्थान है। यदि सुसङ्गसे वे अवगुण जाते रहें, एक मांस खाना ही न छूटा तो क्या चिन्ता?

समाधान—बात यह है कि मांस-भक्षण सब अवगुणोंका मूल है; यह छूट जाय तो सभी छूट जायँ। जब यही न छूटा तब और क्या गया? कुछ भी तो नहीं। अतएव गोस्वामीजीने प्रथम मांसका ही छूटना सिद्धान्त किया। (बाबा हरिदासजी)

खल-वन्दना-प्रकरण समाप्त हुआ।

सन्त-असन्त-वन्दना-(सुसङ्ग-कुसङ्ग-गुण-दोष-) प्रकरण

बंदौं संत असजन[1] चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना॥ ३॥

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख[2] दारुन देहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—असज्जन=जो सज्जन नहीं है, दुर्जन, खल, असन्त। दुखप्रद=दुःख देनेवाले। उभय=दोनों। बीच=अन्तर, भेद, कछु=कुछ। बरना=वर्णन किया गया, कहा गया है। बिछुरत (बिछुड़त)=बिछोह या वियोग होते ही, सङ्ग छूटते ही। हरि लेहीं=हर लेते हैं। दारुन (दारुण)=कठिन।

अर्थ—(अब मैं) सन्त और असन्त (दोनों) के चरणोंकी वन्दना करता हूँ। दोनों दुःख देनेवाले हैं (परन्तु उनमें) कुछ अन्तर कहा गया है॥ ३॥ (सन्त) बिछुड़ते ही प्राण हर लेते हैं और दूसरे (असन्त) मिलते ही कठिन दुःख देते हैं॥ ४॥

नोट— १ *'बंदौं संत असजन चरना'* इति। यहाँ सभी महानुभावोंने यह प्रश्न उठाकर कि 'सन्त और खल दोनोंकी वन्दना कर चुके, अब पुनः दोनोंको मिलाकर वन्दना करनेमें क्या भाव है?' इसका उत्तर भी कई प्रकारसे दिया है। कुछ महानुभावोंका मत है कि पृथक्-पृथक् वन्दनासे यह सन्देह हुआ कि इन दोनोंकी जाति, उत्पत्ति, प्रणाली, देश इत्यादि भी पृथक् होंगे। इसके निवारणार्थ एक साथ वन्दना करके सूचित किया है कि जाति आदि एक ही हैं, इनकी पहिचान लक्षणोंहीसे हो सकती है, कुल,

---

१ असंतन—१७०४ (परन्तु रा० प० में 'असज्जन' पाठ है, 'असंतन' पाठान्तर कहा है), को० रा०। असज्जन—प्रायः अन्य सबोंमें। २-दुख दारुन—१६६१, पं०। दारुन दुख—प्रायः औरोंमें।

जाति इत्यादिसे नहीं। साहित्यके विज्ञ यों कहेंगे कि प्रथम सन्त-असन्तके गुण-अवगुण अलग कह दिये, अब दोनोंका भेद कहते हैं। इससे दोनोंको एक साथ मिलाकर कहा।

यह चमत्कारिक वर्णन है। एक ही बातके वर्णन करनेकी अनेक शैलियाँ हैं, उनमेंसे यह भी काव्यमें एक शैली है। जैसे विष और अमृत सञ्जीविनी और विषौषधिको प्रकृति उत्पन्न करती है, वैसे ही खल और साधुको भी। वे जन्म और संस्कारसे ही वैसे अशुभ और शुभगुणोंसे विशिष्ट होते हैं। अतः उनके गुणोंका दिग्दर्शन कराना महाकविका कर्त्तव्य है और वह महाकाव्यका एक गुण है। यथा—'**क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम्**।' (साहित्यदर्पण)

द्विवेदीजी लिखते हैं कि भले-बुरेको समानरूपसे वर्णन करना यह एक प्रकारका काव्य है। गोसाईंजीने यहाँपर काव्य किया है कि दोनों दुःख देनेवाले हैं, भेद इतना ही है कि एक वियोगसे, दूसरा संयोगसे दुःख देता है। साधु अपने समागमसे भगवच्चरितामृत पान कराता है। इसलिये उसके वियोगसे सुधापान न मिलनेसे प्राणीका प्राण जाने लगता है; जैसे श्रीरामके वियोगसे अवधवासियोंका, श्रीकृष्णके वियोगसे गोपियोंका इत्यादि। खलके मिलते ही उसके वचन-विषोंसे प्राणीका प्राण जाने लगता है, जैसे यतिस्वरूप रावणके मिलते ही श्रीसीताजीका, ताड़का-सुबाहु आदिके संयोगसे विश्वामित्रादिका इत्यादि।'

पं० सूर्यप्रसाद लिखते हैं कि बड़ोंके साथ खलोंकी वन्दनाका यही कारण जाना जाता है कि इनपर गोसाईंजीकी अत्यन्त दया हुई? उन्होंने यह सोचा कि यदि मैं उनकी वन्दना सज्जनके साथ करूँगा तो कदाचित् सज्जन हो जायँ और इनका अवगुण तो सज्जनोंमें नहीं आवेगा। यथा— '**सत्संगात् प्रभवति साधुता खलानां साधूनां न हि खलसङ्गमात् खलत्वम्। आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते मृद्गन्धं न हि कुसुमानि धारयन्ति**॥' (सु० र० भा० प्रकरण २ सन्त-प्रशंसा) अर्थात् दुष्टोंको साधुके सङ्गसे साधुता आ जाती है पर साधु दुष्टके सङ्गसे दुष्ट नहीं होते। जैसे फूलके सङ्गसे मिट्टी सुगन्धित हो जाती है पर मिट्टीकी गन्ध फूलमें नहीं आती। (श्लोक २७)

नोट—२ '***दुखप्रद उभय बीच कछु बरना*****।**' इति। (क) '***दुखप्रद उभय***' अर्थात् दोनों दुःखदायी हैं, यह कहकर पहले दोनोंको एक सदृश सूचित किया। फिर कहा कि कुछ भेद है। यह 'उन्मीलित अलङ्कार' है। यथा—'***उन्मीलित सादृश्यसे भेद फुरै तब मान***'। (ख) '***दुखप्रद उभय***' कथनसे पहले तो सन्तकी निन्दा सूचित हुई, परन्तु फिर जब कहा कि '***बिछुरत प्रान हरि लेहीं***' अर्थात् इनके वियोगसे या तो प्राण ही चल देते हैं या प्राणान्त कष्ट होता है, तब इनकी स्तुति हुई कि ये ऐसे हैं कि इनका सङ्ग सदा बना रहे, कभी साथ न छूटे। यथा—'***कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना*****॥**' (५। २७) (श्रीहनुमान्‌जीसे श्रीसीताजीने वियोग होते समय यह वचन कहे हैं।) इस प्रकार इस पदमें निन्दाके मिष स्तुति हुई। अतः यहाँ 'व्यंग्य' भी है। इसी तरह पहले '***दुखप्रद उभय***' से खलोंकी बड़ाई हुई कि इनमें सन्तका-सा गुण है, इसीसे सन्तके साथ मिलाकर इनकी वन्दना की गयी; परन्तु फिर जब कहा कि ये '***मिलत दुख दारुन देहीं***' मिलते ही दारुण दुःख देते हैं, तब इनकी निन्दा सूचित हुई कि ये बड़े ही दुष्ट होते हैं, अतः इनका दर्शन कभी न हो, यही अच्छा है। इस प्रकार यहाँ स्तुतिके बहाने निन्दा की गयी। रामायणमें श्रीरामजीके वियोगसे श्रीदशरथमहाराजके, भक्तमालमें श्रीकृष्णवियोगसे कुन्तीजीके और सन्तोंके वियोगसे एक राजाके प्राण गये। दुष्ट यतीवेषधारी रावणके मिलते ही श्रीजानकीजीको दारुण दुःख हुआ। इत्यादि उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। (ग) '***बिछुरत***' और '***मिलत***' दो विरुद्ध क्रियाओंसे एक ही कार्य '***दुखप्रद***' सिद्ध हुआ। अतः यहाँ 'द्वितीय व्याघात'-अलङ्कार है। यथा—'***एकै कारन साधिबो करिकै क्रिया बिरुद्ध*****।**' दुःखप्रद दोनों हैं पर एकका वियोग दुःखप्रद और दूसरेका संयोग दुःखप्रद है, यह भेद है।

टिप्पणी—१ कई प्रकारसे साधु और असाधुके गुण और दोष दिखाते हैं। (१) साधुका मिलना गुण है और बिछुड़ना दोष। इससे इनका वियोग कभी न हो, सदा इनका सत्सङ्ग रहे। खलका मिलना दोष है, उनके बिछुड़नेमें सुख है। इनसे सदा वियोग रहे, कभी इनका सङ्ग न हो। इसीसे मिलना और बिछुड़ना

पृथक्-पृथक् जनाया। (२) गुण पृथक्-पृथक् हैं। यथा—'*जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं।*' (३) करतूति पृथक् है। यथा—'*भल अनभल निज निज करतूती।*' सन्तकी करतूति सुयशमय है, असन्तकी अपयशमय।

उपजहिं एक संग जग* माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं॥ ५॥

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू॥ ६॥

शब्दार्थ—उपजहिं=उत्पन्न होते हैं। माहीं=में। जलज=कमल। जोंक=† जलौका। =जलमें रहनेवाले कृमि-विशेष। (मा० प०) बिलगाहीं=अलग होते हैं, भिन्न स्वभावके होते हैं। सुधा=अमृत। जनक=पैदा करनेवाला पिता, उत्पत्तिस्थान। जलधि=समुद्र। अगाधू=गहरा, अथाह।

अर्थ—दोनों जगत्‌में एक साथ उत्पन्न होते हैं, जैसे कमल और जोंक, (परन्तु) गुण जुदा-जुदा होते हैं‡ ॥ ५॥ साधु अमृत और असाधु वारुणीके समान हैं, दोनोंका उत्पत्तिस्थान एक जगद्‌रूपी अगाध समुद्र ही है॥ ६॥

नोट—१ '*उपजहिं एक संग*......' इति। दुःखप्रदत्वमें समानता कहकर उसमें किञ्चित् भेद भी कहा। अब, उत्पत्तिस्थान तथा रहनेका स्थान भी एक ही है तो भी, गुण पृथक्-पृथक् होते हैं, यह बताते हैं। सन्त और असन्त दोनों जगत्‌में ही होते हैं और एक ही घरमें भी होते हैं (जैसे प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु, विभीषण और रावण, कौरव और पाण्डव आदि) पर गुण भिन्न-भिन्न होते हैं, गुणोंसे ही वे देखे जाते हैं। आगे इसीके उदाहरण हैं।

टिप्पणी—१ (क) जलज जड है, जोंक चेतन है। तात्पर्य यह है कि कमल जलसे उत्पन्न है तो भी जलको नहीं जानता और न जलमें लिप्त होता है, वैसे ही सन्त हैं। जगत्‌में रहते हुए भी जगत्‌का विकार उनमें नहीं आने पाता। यथा—'*जे बिरंचि निर्लेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जलजाये॥*' (२। ३१७) खल जोंक हैं। जलको जानते हैं और जलहीमें लिप्त रहते हैं। अर्थात् जैसे जोंक पानीमें डूबती-उतराती है, वैसे ही खल संसारके विषयभोगहीमें डूबे दुःख-सुख भोगते हैं। पुनः, (ख) जलज सुखदाता है, जोंक दुःखदाता। कमलको सूँघनेसे रक्तकी वृद्धि होती है, आह्लाद होता है। जोंक रुधिर खींचती है और उसे देखनेसे डर लगता है। इसी तरह सन्तदर्शनसे क्षमा-दयादि गुणोंकी वृद्धि और आनन्द होता है। खलका दर्शन खून सोख लेता है, उनको देखनेसे ही डर लगता है, इनके संसर्गसे क्षमादिक गुण घटते हैं। [पुनः, (ग) जलज अपने गुणोंसे देवताओंके सिरपर चढ़ता और जोंक अपने रक्तपान करनेके स्वभावसे फोड़ेके दुष्ट रक्तको ही पीती है। इसी तरह सन्त अपने गुणोंसे सबसे सम्मान पाते हैं और खल रागद्वेषादि दूषित विषय भोगते हैं। (मा० प०) पुनः, (घ) कमल खानेसे दुष्ट रक्तको शुद्ध करता है। जोंक घावकर पीड़ा देकर दुष्ट रक्तको पीकर बाहर खींच लेती है। साधु अनेक कथावार्तासे शरीरमें क्षमा आदि गुण उत्पन्न करता है। खल अपने वाग्वज्रोंसे मारकर प्राणीके क्षमा आदि गुणोंकी परीक्षा करता

---

* जल—किसी-किसी छपी पुस्तकमें है।

† यह प्रसिद्ध कीड़ा बिलकुल थैलीके आकारका होता है, पानीमें रहता है और जीवोंके शरीरमें चिपककर उनका दूषित रक्त चूस लेता है। फोड़ा-फुंसी आदिके दूषित रक्तको निकालनेके लिये इसे शरीरमें चिपका देते हैं। जब वह खूब खून पी लेती है तब उसे खूब उँगलियोंसे कसकर दुह लेते हैं, जिससे सारा खून गुदाके मार्गसे निकल जाता है। साधारण जोंक डेढ़ इञ्च लम्बी होती है। (श० सा०)

‡ अर्थान्तर—२ कमल और जोंकके समान अपने-अपने गुणोंको दिखलाते (मा० मा०)। [सरयूपारके देशमें 'बिलगाना' शब्द 'दिखायी देना' अर्थमें बोला जाता है। पर क्रि० स० 'दिखलाना' अर्थ हमको नहीं मालूम कहाँका है।] ३—अपने-अपने गुणोंसे अलग हो गये हैं। (मा० प्र०) बिलगाना=अलग होना। यथा—'निज निज सेन सहित बिलगाने। १। ९३।' पुनः, बिलगाना=अलग करना। यथा—'गनि गुन दोष बेद बिलगाए' (१। ६)।

है कि इस प्राणीमें कहाँतक क्षमा है। इस तरह साधु तो क्षमा सिखाता है अर्थात् क्षमा-शिक्षक है और खल क्षमा-परीक्षक। यही दोनोंमें भेद हुआ। (पं० सु० द्विवेदीजी) पुनः, (ङ) कमल सूँघनेसे शीतलत्व देता है, उसके बीज (कमलगट्टा, मखाना) खानेसे रुधिरकी वृद्धि होती है; जोंक रुधिरको खींचकर पी जाती है। वैसे ही सन्त त्रयताप छुड़ाते, मधुर वचनों एवं हरिनामयशद्वारा सुख देते हैं और असन्त अपने वचनोंसे रुधिर ही सुखा देते हैं। (वै०)

दोहावलीमें खलोंको जोंकसे भी अधिक बुरा कहा गया है। यथा—*'जोंक सूधि मन कुटिल गति खल बिपरीत बिचारु। अनहित सोनित सोख सो सो हित सोखनिहारु॥'* (४००) अर्थात् जोंककी गति टेढ़ी है, मन नहीं और खलोंके तो मन, वचन, कर्म सभी कुटिल हैं, जोंक तो दूषित रक्त पीती है और असन्त तो अच्छे रक्तको सुखा देते हैं।]

नोट—२ सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि यहाँ 'जलज (की उपमा) देनेका भाव यह है कि इस संसारके पहले 'जलज' ही (भगवान्‌की नाभिसे) उत्पन्न हुआ है, फिर उसीसे सृष्टि चली है। दूसरे यह कि सृष्टिके पूर्व जल ही था और कुछ नहीं, इसलिये जलज नाम कहा।'

टिप्पणी—२ *'सुधा सुरा सम साधु असाधू।'* इति। (क) यह दूसरा दृष्टान्त इस बातका है कि एक पितासे पैदा होनेवालोंमें भी यह जरूरी नहीं है कि एक-से ही गुण हों। पहले (जलज जोंकके) दृष्टान्तसे एक ही स्थान (देश) में उत्पत्ति होना कहकर भेद बताया था। अमृत और वारुणी दोनों क्षीरसमुद्रसे निकले थे, जब देवासुरने मिलकर उसे मथा था। अतः अगाध समुद्रको इन दोनोंका पिता कहा। साधु और असाधु दोनों संसारमें होते हैं। अतः जगत्‌को इनका पिता कहा। [(ख) जैसे 'सुधा' और 'सुरभि' एक ही अक्षर। 'ध' और 'र' का भेद है; वैसे ही 'साधु' और 'असाधु' में अकारमात्रका भेद है। (मा० प०) (ग) सुधापानसे अमरत्व और सुरापानसे उन्मादत्वकी प्राप्ति होती है, वैसे ही साधुसे भगवद्भक्ति एवं भगवत्प्राप्ति और असाधुसे नरककी प्राप्ति होती है। (घ) सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि यहाँ 'अगाध' का अर्थ 'दुर्बोध' है। अतएव अमृत और मद्य भी दुर्बोध धारणावाले प्रकटे। अगाधका अन्वय *'जग'* और *'जलधि'* दोनोंमें है।]

टिप्पणी—३ सन्त और असन्तका उत्पत्तिस्थान जगत् कहा। यथा—*'उपजहिं एक संग जग माहीं।'* तथा *'जनक एक जग जलधि अगाधू।'* और, सुधा एवं सुराका भी उत्पत्तिस्थान 'जलधि' कहा। पर 'जलज' और 'जोंक' का उत्पत्तिस्थान न कहा। कारण यह है कि कमल और जोंकके उत्पत्तिस्थानका कोई नियम नहीं है। कमल तालाब और नदीमें भी होता है। जोंक तालाब, नदी और गढ़ेमें भी होती है। (नोट—समुद्री जोंक भी होती है जो दो ढाई फुट लम्बी होती है।) इसीसे इनका स्थान नियत न किया गया। 'जलज' शब्द देकर 'जल' का नियम किया, (अर्थात् इसकी उत्पत्ति जलसे है।) 'सुधा' और 'सुरा' के उत्पत्तिस्थानका नियम है। ये समुद्रसे निकले; इसलिये इनके स्थानको नियम किया। 'साधु' 'असाधु' के उत्पत्तिस्थानका नियम जगत् है, जाति नहीं। अतः दोनों अर्धालियोंमें 'जग' ही लिखते हैं।

भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥७॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमलसरि ब्याधू॥८॥

शब्दार्थ—**भल**=भला, अच्छा। **अनभल**=बुरा। **करतूती**=कर्त्तव्यता, कर्तृत्व, करनी, कर्म, गुण। **लहत**=लभन्ते=पाते हैं। **सुजस**=सुन्दर यश, नेकनामी, कीर्ति। **अपलोक**=अपयश, अपकीर्ति, बुरा नाम वा यश, बदनामी, **बिभूती** (विभूति)=सम्पत्ति=ऐश्वर्य। **सुधाकर**=अमृत-किरणवाला=चन्द्रमा। **गरल**=विष, जहर। **अनल**=अग्नि, आग। **कलिमल सरि**=कर्मनाशा नदी। **ब्याधू** (व्याध)= दुष्ट, खल।

अर्थ—भले और बुरे (दोनों) अपनी-अपनी करनीसे (करनीके अनुकूल) सुयश और अपयशकी विभूति

पाते हैं*॥ ७॥ साधु अमृत, चन्द्रमा और गङ्गाजी के समान हैं। खल विष, अग्नि और कर्मनाशाके समान हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ कमल और अमृत अपने गुणोंके कारण सराहे जाते हैं, जोंक और मद्य अपने अवगुणोंके कारण अपयशके भागी होते हैं, यद्यपि वे दोनों एक ही जगह होते हैं। यह कहकर उनकी करनी भी बताते हैं कि कैसी है, जिससे वे यश-अपयश पाते हैं।

टिप्पणी—(२) *'बिभूती'* पदसे जनाया कि भारी सुयश-अपयशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि भारी करतूति करते हैं, सामान्य नहीं। सुयश-विभूति स्वर्गको प्राप्त करती है, अपयश-विभूति यमलोकको प्राप्त करती है। यहाँ 'प्रथम सम अलङ्कार' है।

टिप्पणी—(३) *'सुधा सुरा सम साधु असाधू'* (५। ६) में उत्पत्ति कही थी और यहाँ *'सुधा सुधाकर'''''* में करनी वा गुण-अवगुण कहे हैं।

टिप्पणी—(४) यहाँ तीन दृष्टान्त देकर दिखाया कि—(क) 'इन तीनोंके वचन, मन और कर्म कैसे हैं। सुधासम वचन है, सुरसरिसम तन है, सुधाकरसम शीतल स्वभाव है, यह मनका धर्म है। सुरसरि-सम तन है, स्पर्शहीसे पापका नाश करते हैं। यथा—*'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए।'* (विनय० १३६) इसी तरह खलका वचन गरलसम, स्वभाव अग्निसम और तन कर्मनाशासम है कि स्पर्शमात्रसे धर्मका नाश करते हैं। अथवा, (ख) सन्त मृत्यु हरैं, ताप हरैं, पाप हरैं। खल मृत्यु करैं, ताप करैं, पाप करैं। अथवा, (ग) *'दरस परस समागम'* ये तीनों दिखाये। समागममें सुधासम वचन, दर्शन चन्द्रसम तापहारी और स्पर्श गङ्गासम पापहारी।

नोट—१ (क) सुधा, सुधाकर आदिके अन्य धर्म—(१) सुधाके धर्म स्वाद, संतोष, अमरत्व। सन्तमें श्रीहरिनामरूपलीला सुधा है, जिसे पाकर सब साधनोंसे वे तृप्त हो जाते हैं। यथा— **'तेन तप्तं, हुतं, दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालं॥'** (विनय० ४६) (२) चन्द्रमामें शीतल प्रकाश, सन्तमें सौजन्य, सौशील्य, कोमल वचन, दयामय हृदय। चन्द्रमा शरदातप और सन्त त्रिताप हरते हैं। पुनः यथा—*'सीतल बानी संत की, ससिहू के अनुमान। तुलसी कोटि तपन हरै, जो कोउ धारै कान॥'* (वै० सं० २१) (३) 'सुरसरि' के धर्म (२। ८—११) में देखिये। दोनों अपना-सा (स्वरूप) कर देते हैं। (४) विष और खल दूसरेके नाशमें लगे रहते हैं। (५) 'अनल' के धर्म (४। ५) में देखिये। (६) कर्मनाशामें स्नानसे शुभकर्मोंका नाश, खल-सङ्गका भी वही फल। (ख) कुछ महानुभावोंका मत है कि गङ्गा, सुधा और सुधाकर तीनोंका सम्बन्ध समुद्रसे है, इसीसे तीनोंको एक साथ कहा।

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहिं भाव नीक तेहिं सोई॥ ९॥

दो०—भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहिं नीचु।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु॥ ५॥

---

* (१) मानसपत्रिकामें यों अर्थ किया है—'अपनी-अपनी करनीसे लोग भले और बुरे होते हैं और सुयश, अपकीर्ति और ऐश्वर्यको पाते हैं।' (२) द्विवेदीजी—'अपने-अपने कर्महीसे लोग भले और बुरे गिने जाते हैं।' शास्त्रमें भी लिखा है कि 'जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा द्विज उच्यते।' (३) सू० प्र० मिश्र—('किंवा सुधा-सुधाकरका अन्वय ऊपरकी चौपाईसे' तो यह अर्थ होगा।—'अमृत, चन्द्र, गङ्गा और साधु चारों अपनी करनीसे पूजे जाते हैं। विष, अग्नि, कर्मनाशा नदी और व्याधा—ये चारों अपनी-अपनी करनीसे बुरे गिने जाते हैं।') (४) बाबा हरिदासजी अर्धाली ८ का अन्वय अर्धाली ९ के साथ करते हैं।

शब्दार्थ—**भाव**=रुचता है, प्रिय है, भाता है। **भलो**=भला, साधु, सज्जन। **भलाइहि**=भलाईहीको। **पै**=निश्चय करके।=परन्तु, पर। यथा—*'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥'* (२। १८३)।=से। **लहै**=पाता है, प्राप्त करता या होता है।=ग्रहण करता है। (पं० रा० कु०) शोभा पाते, सराहना पाते हैं। (मुहावरा है) (गौड़जी)। **सराहिअ**=सराहा जाता है, प्रशंसा की जाती है। **अमरता**=अमरत्व गुण, अमर करनेका धर्म।

अर्थ—गुण-अवगुण सभी कोई जानता है, जिसको जो भाता है, रुचता है, उसको वही अच्छा लगता है (९) पर भले भलाई ही और नीच नीचता ही 'लहते' हैं। अमृतकी अमरता सराही जाती है और विषका मार डालना ही सराहा जाता है॥ ५॥

नोट—१ *'गुन अवगुन जानत सब……'* इति। (क) पूर्व जो कहा कि साधु और खल अपनी-अपनी करनीसे सुयश या अपयश पाते हैं, साधुकी करनी सुधा आदि और असाधुकी करनी गरल आदिकी-सी है। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि खल जानते नहीं होंगे कि क्या गुण है और क्या अवगुण, न यह जानते होंगे कि पापका फल नरक होता है, क्योंकि वे तो पापमें आसक्त हैं। उसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है, गुण-अवगुण सभी जानते हैं और वे भी जानते हैं पर *'जो जेहिं भाव……'*। (मा० प्र०, सू० प्र० मिश्र) (ख) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ जो कहा कि गुण-अवगुण सब जानते हैं, वे गुण-अवगुण *'सुधा……कलिमलसरि'* के हैं। अर्थात् सुधा, सुधाकर और सुरसरिके गुण और गरल, अनल और कर्मनाशाके अवगुण सभी लोग जानते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि इन सबोंके गुणोंका व्योरा हमने नहीं लिखा, क्योंकि सब जानते हैं। बाबा हरिदासजीका मत है कि 'सुधाकी अमरता, चन्द्रमाकी शीतलता, गङ्गाजीकी पुनीतता और साधुकी सुकृति इन चारोंके ये गुण तथा गरलका मारना, अग्निका जलाना, कर्मनाशाका शुभकर्मोंका नाश करना और व्याधाके पाप, इन चारोंके अवगुण इति गुण-अवगुण सब जानते हैं।' इनके मतानुसार पिछली अर्धालीका अन्वय इसके साथ है। भाईजी श्रीपोद्दारजीने भी ऐसा ही अन्वय किया है।

नोट—२ *'जो जेहिं भाव'* इति। अर्थात् जिस ओर जिसके चित्तकी वृत्ति लगी हुई है उसको वही भाता है, किसीसे उसका निवारण होना कठिन है। (पंजाबीजी) यही आशय श्रीपार्वतीजीके वचनोंमें है। *'महादेव अवगुनभवन बिष्नु सकल गुनधाम। जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥'* (१। ८०) पुनः, यथा—*'जो जो जेहिं रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि जेहिं'* (दोहावली ३७१) द्विवेदीजी लिखते हैं कि अतिसङ्ग हो जानेसे चाहे उसमें दोष हो परन्तु वही अच्छा जान पड़ने लगता है। रामायणपरिचर्याकार लिखते हैं कि स्वभाव प्रारब्धके प्रतापसे होता है, इसलिये बिना गुण-दोष विचारे ही लोगोंका प्रियत्व वस्तुओंमें हो जाता है।

नोट—३ *'भलो भलाइहि……'* इति। *'लहै'* के उपर्युक्त अर्थोंसे इसके ये अर्थ होते हैं—(क) 'भले भलाईहीको ग्रहण किये हैं, नीच निचाईको ग्रहण किये हैं। सुधाकी प्रशंसा अमरता है, गरलकी मीच है'। (पं० रा० कु०) (ख) पर भले भलाईहीको पाते हैं और नीच नीचता ही पाते हैं। (मा० प०, रा० प्र०) अर्थात् भले भला कर्म करते हैं। अतः सब उनके भलाईकी प्रशंसा करते हैं, यही भलाईका पाना है। इसी तरह नीचताके कर्म करनेसे उनको नीच कहते हैं, यही नीचता पाना है। (ग) भले भलाईहीसे प्रशंसा पाते हैं और नीच निचाईसे शोभा पाते हैं।

भाव तीनों अर्थोंका एक ही है, केवल अन्वय और शब्दोंके पूरे-पूरे अर्थोंकी बात है। भाव यह है कि भलेकी प्रशंसा जब होती है तब भला ही काम करनेकी होती है और नीचकी बड़ाई नीचताहीमें होती है। इस तरह भलेको यश और बुरेको अपयश प्राप्त होता है, जैसे अमृतकी प्रशंसा अमरत्वगुणहीकी होती है और विषकी प्रशंसा जब होगी तब उसके मारक (मृत्युकारक) गुणहीकी होगी; यदि विषसे मृत्यु न हुई तो उसकी बुराई होगी कि असल न था। पाण्डेजी लिखते हैं कि *'गुन अवगुन……नीचु'* का

भाव यह है कि 'सन्त और खल दोनों जानते हैं; इस तरह निकाईमें भी दोनों बराबर हुए, अपने-अपने भावानुसार, अपने-अपने कर्ममें दोनों भलाई पाते हैं; इस तरह भी दोनों बराबर हैं।'

नोट—४ *'सुधा सराहिअ·····'* इति। 'सुधा' के कहते ही 'सुधा, सुधाकर, सुरसरि' तीनोंका ग्रहण हुआ और 'गरल' कहते ही 'गरल, अनल, कलिमलसरि' तीनोंका ग्रहण हुआ। दोनोंका केवल प्रथम शब्द यहाँ देकर और सब भी सूचित किये। यहाँतक गुण और दोष निरूपण किये गये। (पं० रामकुमारजी)

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥ १॥
तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥ २॥

शब्दार्थ—अगुन (अगुण)=अवगुण, दोष, बुरे गुण। गाहा=गाथा; कथा। यथा—*'करन चहउँ रघुपति गुन गाहा'* (१। ७)। उदधि (उद्=जल। अधि=अधिष्ठान)=समुद्र। अपार=जिसका कोई पार न पा सके। अवगाहा (सं० अगाध)=अथाह; बहुत गहरा। यथा—*'लघु मति मोरि चरित अवगाहा'* (१। ८), *'नारि चरित जलनिधि अवगाहू'* (२। २७)। तें=से। यथा—*'को जग मंद मलिन मति मो तें'* (१। २८), *'राम कीन्ह आपन जबहीं तें। भयउँ भुवन भूषन तबहीं तें॥'* (२। १९६) बखाने=कहे। संग्रह=ग्रहण करनेकी क्रिया; ग्रहण; स्वीकार। त्याग=छोड़ना।

अर्थ—खलोंके पापों और अवगुणोंकी कथा और साधुके गुणोंकी कथा (ये) दोनों अपार और अथाह समुद्र हैं॥ १॥ इसीसे (मैंने) कुछ गुण और दोष वर्णन किये (क्योंकि) बिना पहचाने इनका संग्रह या त्याग नहीं हो सकता॥ २॥

नोट—१ *'अपार उदधि अवगाहा'* इति। 'अपार' और 'अवगाह' का भाव यह कि कोई यह करनेको समर्थ नहीं कि इनमें इतने ही गुण वा अवगुण हैं। उनकी थाह और पार नहीं मिल सकता, इसीसे 'कछु' बखानना कहा। सन्तशरणदासजी लिखते हैं कि 'अपार' का भाव यह है कि उनके विस्तार और गम्भीरताहीका प्रमाण नहीं। खलोंके अघ अवगुण और साधुके गुणरूपी उदधिका एक ही धर्म 'अपार अवगाह' कथन 'प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार' है।

पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि शिष्य एक प्रकारका आत्मज (पुत्र) है। **'आत्मनः जायते असौ आत्मजः'**, इस व्युत्पत्तिसे पुत्र अपनी ही आत्मा है। खलके शिष्य-प्रशिष्य तथा साधुके शिष्य-प्रशिष्य कल्पान्ततक चले जायँगे। उनके अवगुण और गुण ऊपरकी उक्तिसे खल और साधुहीके अगुण और गुण हैं। इसलिये कल्पान्ततक, शिष्य-प्रशिष्योंके अगुण और गुण लेनेसे, दोनों समुद्रकी तरह अपार और अथाह हैं।

नोट—२ *'तेहि तें कछु गुन दोष बखाने'* इति। (क) वैजनाथजी लिखते हैं कि 'परदोषकथन तो खलका काम है, तब गोस्वामीजीने साधु होकर पर अवगुण क्यों कहे?' और उत्तर देते हैं कि उन्होंने उदाहरण तो कोई दिये नहीं। अर्थात् किसीका रूप या नाम लेकर अवगुण नहीं कहे कि अमुक व्यक्तिमें ये अवगुण हैं। खलका क्या लक्षण है, उन्होंने केवल इतना ही कहा है। अतः यह परदोषकथन नहीं है। और लक्षण कहनेका प्रयोजन स्वयं बताते हैं कि *'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'*

(ख) ऊपर कह आये हैं कि *'गुन अवगुन जानत सब कोई'* तो फिर इनके पहिचाननेके लिये इनको क्यों कहा? इस प्रश्नको लेकर उसका उत्तर पं० रामकुमारजी यह देते हैं कि 'पहिचाननेके लिये सन्त-असन्तके गुणदोष कहे हैं और जो गुण-अवगुण सब जानते हैं वे तो जलज, जोंक, सुधा, सुधाकर इत्यादिके हैं, यह भेद है।

(ग) यदि कोई शङ्का करे कि 'श्रीरामचरित आप लिखने बैठे, आपको सन्त और खलके गुण या अवगुण गिनानेसे क्या प्रयोजन ?' तो उसकी यहाँ निवृत्ति करते हैं कि हमने अपने जाननेके लिये लिखा। इनके स्मरण रखनेसे जिनमें गुण देखेंगे उनका साथ करेंगे। इस प्रकार सन्तका सङ्ग होनेसे चरित्रमें सहायता

मिलेगी और जिनमें अवगुण होंगे उनसे दूर रहेंगे। (मा० प्र०) पुनः, गुण-ही-गुण लिखते तो अवगुणका बोध न होता। (नोट—गुण, अवगुणका वर्णन लोक-शिक्षात्मक है।)

(घ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि संतोंके गुण पढ़कर लोग उन्हें ग्रहण तो करेंगे पर असन्तोंके लक्षण न जाननेसे सदा भय है कि कहीं उनके दोषोंको भी न ग्रहण कर लें, जैसे कि परदोषकथन वा श्रवण बहुतेरे सज्जनोंमें भी देखनेमें होता है। साधुवेष एवं वैष्णवों और प्रतिष्ठित भक्तोंमें भी द्वेष, परहितहानिमें तत्परता इत्यादि दोष आज भी प्रकट देखनेमें आते हैं। यहाँ गुण-अवगुण-कथन यह उल्लेख ठीक वैद्यका-सा है जो रोगीको औषधि देते समय पथ्यके साथ कुपथ्य भी बता देता है जिसमें उससे बचा रहे।

नोट—३ सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि ग्रन्थकारने यहाँतक खल और सज्जनके 'प्रत्येक इन्द्रियोंके काम और जो-जो बातें शरीरमें होनी चाहिये उन सभीको पूर्णरीतिसे दिखलाया है। यहाँ उनका क्रम उल्लेख किया जाता है। खलस्वरूप, *'खल अघ अगुन साधु गुनगाहा।'* श्रवण इन्द्रिय, *'पर अघ सुनइ सहसदस काना।'* चक्षुरिन्द्रिय, *'सहस नयन परदोष निहारा।'* रसनेन्द्रिय, मदिरा आदि। मन, *'जे बिनु काज दाहिनेहु बायें।'* बुद्धि, *'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे॥'* हाथ, *'पर अकाज भट सहसबाहु से।'* पाद, *'हरिहर जस राकेस राहु से।'* वाक् *'सहस बदन बरनइ परदोषा।'* वचन, विष। दर्शन, अग्नि। स्पर्श, कर्मनाशा। कर्त्तव्य, *'जे परदोष लखहिं सहसाखी।'* तेज, *'तेज कृसानु रोष महिषेसा।'* उदय, *'उदय केतुसम हित सबही के'* (उपप्लवाय लोकानां धूम्रकेतुरिवोत्थितः।) अस्त, *'कुंभकरन सम सोवत नीके।'* दिनकृत्य, *'अनहित सबही के।'* रात्रिकृत्य, *'जे परदोष लखहिं सहसाखी।'* संयोगफल, *'मिलत एक दारुन दुख देहीं।'* उत्पत्ति, *'उपजहिं एक संग जगमाहीं।'* धन सम्पत्ति, *'अघ अवगुन धन धनी धनेसा।'* प्रिय, *'बचन बज्र जेहि सदा पिआरा।'* स्वभाव, *'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति'*। नाश, *'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं'* इत्यादि।

नोट—४ 'स्वर्गवासी वन्दनपाठकजी—ग्रन्थकारने खलवन्दनामें तीन असुरोंका, तीन राजाओंका और तीन देवताओंका दृष्टान्त दिया है और सहस्रनयन, सहस्रमुख और सहस्रभुजका दृष्टान्त तीनों लोकवासियोंमेंसे एक-एक दिया है। असुरोंका—राहु, केतु और कुम्भकर्ण। राजाओंका—सहस्रबाहु, पृथुराज और कुबेर। देवताओंका—अग्नि, यम और इन्द्र। स्वर्गवासी सहस्रनयन इन्द्र, भूतलवासी सहस्रबाहु और पातालवासी सहस्रमुख शेष।' (मा० प०)

नोट—५ पं० रामकुमारजी—यहाँतक साधु-असाधुके द्वारा कुछ गुण-दोष बखाने; अब (आगे) विधि प्रपञ्चके द्वारा कहते हैं।

भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये॥ ३॥
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥ ४॥

शब्दार्थ—भलेउ=भले भी। **पोच**=बुरे। **बिधि**=विधाता; परमात्मा। **उपजाना**=उत्पन्न या पैदा करना। **गनि**=गणना करके; गिनाकर; विचारकर। **बिलगाना**=(५। ५) देखिये। **इतिहास**=वह पुस्तक जिसमें बीती हुई प्रसिद्ध घटनाओं और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंका वर्णन हो और उसके साथ-साथ धर्म, भक्ति, ज्ञान और कर्मकाण्डके गूढ़ रहस्य भी जिसमें हों, इत्यादि। जैसे महाभारत और वाल्मीकीय। **बिधि प्रपंचु**=सृष्टि; संसार। **साना**=दो वस्तुओंको आपसमें मिलाना। संयुक्त करना।

अर्थ—भले भी और बुरे भी सभी ब्रह्माजीने उत्पन्न किये। (पर) गुण और दोषोंको विचारकर वेदोंने उनको अलग कर दिया है॥ ३॥ वेद, इतिहास और पुराण कहते हैं कि ब्रह्माकी सृष्टि गुण और अवगुण संयुक्त है॥ ४॥

नोट—१ '*भलेउ पोच*……' इति। (क) संग्रह-त्याग-निमित्त हमने गुणदोष वर्णन किये, यह कहकर अब बताते हैं कि वेदोंने भी यही किया है। (मा० प्र०) अथवा, यदि कोई कहे कि किसीके गुणदोष न कहना, यह धर्मशास्त्रकी आज्ञा है तब आपने कैसे कहा? तो उसका उत्तर देते हैं कि हमने जो गुण-दोष कहे, वे वेदके कहे हुए हैं। (पं० रामकुमारजी) वा, साधु-असाधुके जो गुण-अवगुण हमने कहे हैं, वे हमने विधिप्रपञ्चमें पाये हैं। कुछ हमने ही नहीं कहे किंतु यह परम्परा तो वेदोंकी चलायी हुई है। (मा० प्र०) (ख) ब्रह्माजी पूर्व कल्पवत् सृष्टि रचते हैं। नित्य और अनित्य जितना भी यह चराचर जगत् है सबको ब्रह्माजीने उत्पन्न किया। उन उत्पन्न हुए प्राणियोंमेंसे जिन्होंने पूर्व कल्पमें जैसे कर्म किये थे वे पुनः जन्म लेकर वैसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न ऋतुओंके बारम्बार आनेपर उनके विभिन्न प्रकारके चिह्न पहलेके समान ही प्रकट होते हैं; उसी प्रकार सृष्टिके आरम्भमें सारे पदार्थ पूर्वकल्पके समान ही दृष्टिगोचर होते हैं। सृष्टिके लिये इच्छुक तथा सृष्टिकी शक्तिसे युक्त ब्रह्माजी कल्पके आदिमें बराबर ऐसी ही सृष्टि किया करते हैं। (पद्मपु० सृष्टिखण्ड अ० ३) यथा—'**यथर्तावृतुलिङ्गानि नाना रूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥ करोत्येवंविधां सृष्टिं कल्पादौ स पुनः पुनः। सिसृक्षुश्शक्तियुक्तोऽसौ सृज्य शक्ति प्रचोदितः॥**' (१२३-१२४)

नोट—२ '*गनि गुन दोष बेद बिलगाये*' इति। (क) भले और बुरे दोनों ही सृष्टिमें हैं तब कोई कैसे जाने कि कौन भला है, कौन बुरा। अतएव वेदोंने गुण और दोष अलग-अलग बता दिये। (ख) '*गनि*' का भाव कि संख्या कर दी कि इतने गुण हैं और इतने दोष हैं। (वै०) (ग) '*बेद बिलगाये*' इति। '*बिलगाये*' से पाया जाता है कि गुण-दोष मिलाकर रचना की गयी हैं। वेद शब्द '*विद ज्ञाने*' धातुसे बनता है। उसका विग्रह यह है, '**विदन्ति अनेन धर्मम्**' इति वेदः। अर्थात् जिसके द्वारा लोग धर्मको जानते हैं। विहित कर्म करने और निषिद्ध कर्म न करनेको ही साधारणतः धर्म कहा जाता है। इसके लिये गुण और दोषोंका ज्ञान आवश्यक है। वह वेदोंने किया है।

नोट—३ '*कहहिं बेद इतिहास*……'। (क) 'प्रपञ्च' नाम इसलिये पड़ा कि यह जगत् पाञ्चभौतिक है अर्थात् पञ्चतत्त्वोंका ही उत्तरोत्तर अनेक भेदोंसे विस्तार है। (ख) '*गुन अवगुन साना*' इति। गुण-अवगुण संयुक्त है। दोनों एक ही साथ मिले हुए हैं। मिले हुए तीन प्रकारसे होते हैं। एक तो साधारण गुण-अवगुण। वह यह कि 'एकमें गुण है और दूसरेमें अवगुण पर दोनों एक साथ रहते हैं। जैसे खट्टी वस्तु और मीठी वस्तु। दूसरे मुख्य गुण-अवगुण यह वह हैं जो एक साथ नहीं रहते। जैसे प्रकाश और अंधकार, सूर्य और रात्रि और तीसरे, कारण गुण-अवगुण। यह एकहीमें सने रहते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति या वस्तु जिसमें प्रकटरूपसे गुण-ही-गुण हैं, उसमें ही कारण पाकर कुछ अवगुण भी होता है और जिसमें अवगुण ही हैं उसमें कारण पाकर कुछ गुण भी होते हैं। जैसे दूध, दही गुणदायक हैं पर ज्वरादि कारण पाकर कुपथ्य हैं। कलि अवगुणमय है पर उसमें एक गुण है कि शीघ्र मुक्ति भी इसीमें केवल हरियशनामकीर्त्तनसे सुलभ है। विष्ठा आदि अवगुण पर खेतीके लिये गुण हैं। (वै०) (ग)'*साने*' और वेदके 'बिलगाये' का स्वरूप आगे दिखाते हैं।

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती॥ ५॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सुजीवनु[1] माहुरु मीचू॥ ६॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा॥ ७॥

---

१. सजीवन—प्रायः औरोंमें। सुजीवन—१६६१।

कासी मग सुरसरि कबिनासा[1]। मरु मारव[2] महिदेव गवासा॥ ८॥
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगमागम[3] गुन दोष बिभागा॥ ९॥

शब्दार्थ—**सुजाति**=अच्छी जाति, कुलीन। **कुजाती**=नीच जाति, खोटी जाति। **दानव**=दक्षकी कन्या 'दनु' के पुत्र कश्यपजीसे।=दैत्य, असुर। **अमिअ**=अमृत। **सुजीवनु**=सुन्दर जीवन। **माहुरु**=विष। **मीचू**=मृत्यु। **लच्छि**=सम्पत्ति=लक्ष्मी। यथा—'*एहि बिधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता सुखमूल॥*' (१। २४७) **रंक**=दरिद्र। **अवनीस** (अवनी+ईश=पृथ्वीका स्वामी, राजा। **महिदेव**=ब्राह्मण। **गवासा**=गऊको खानेवाला=क़साई। म्लेच्छ। सरग=स्वर्ग। **बिभागा**=भाग (हिस्से) पृथक्-पृथक् कर दिये।

अर्थ—दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रात, साधु-असाधु, उत्तम जाति, नीच जाति॥ ५॥ दानव-देवता, ऊँच-नीच (बड़े-छोटे, उत्तम-लघु), अमृत, सुन्दर जीवन और विष, मृत्यु॥ ६॥ माया, ब्रह्म, जीव और जगदीश, लक्ष्मी, दारिद्र्य, रंक, राजा॥ ७॥ काशी, मगध, गङ्गा, कर्मनाशा, मारवाड़, मालवा, ब्राह्मण, क़साई॥ ८॥ स्वर्ग, नरक, अनुराग-वैराग्य, (ये गुण-अवगुण विशिष्ट पदार्थ ब्रह्मसृष्टिमें पाये जाते हैं।) वेद-शास्त्रोंने गुण-दोषोंका विभाग कर दिया है॥ ९॥

नोट—१ ऊपर कहा कि विधिप्रपञ्च गुण और अवगुण मिश्रित है। अब उसके कुछ उदाहरण देते हैं। दुःख, पाप, रात्रि, असाधु, कुजाति आदि अवगुण और सुख, पुण्य, दिन, साधु, सुजाति आदि गुण हैं जो द्वन्द्व सृष्टिमें पाये जाते हैं।

नोट—२ '*अमिअ सुजीवनु माहुरु मीचू*' इति। प्रायः अन्य पुस्तकोंमें 'सजीवन' पाठ है पर उसका अर्थ सम्यक् प्रकार 'जीवन' (रा० प्र०), 'जीवन' (पं०, मा० प०) ऐसा कुछ महानुभावोंने किया है। यहाँ अमृतकी जोड़में विष ('माहुर') और 'सुजीवन' की जोड़में 'मीचु' कहा गया है। 'सुन्दर जीवन' ही मृत्युकी जोड़में ठीक है। इसलिये यही पाठ उत्तम है और प्राचीनतम तो है ही। इस चरणके जोड़का चरण अयोध्याकाण्डमें यह है, '*जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिअ अमरपद माहुरु मीचू॥*' (२। २९८) इसके अनुसार 'सुजीवन' का अर्थ 'अमरपद' ले सकते हैं।

टिप्पणी—१ '*माया ब्रह्म जीव जगदीसा*' इति। १ यहाँ 'माया' से त्रिगुणात्मिका माया जानिये जो तीनों गुणोंको परस्पर स्फुरित करके जीवको मोहमें फँसाती है। (करु०) गोस्वामीजीने 'माया' का स्वरूप बाल, अरण्य और उत्तरकाण्डमें दिखलाया है। साथ-ही-साथ ब्रह्म और जीवके भी स्वरूप जनाये हैं। यथा—'*मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥*', '*गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥*' (३। १५), '*माया ईस न आपु कहुं जान कहिए सो जीव। बंधमोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥*' (३। १५) जीव अज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ, जीव मायाके वश, ब्रह्म मायाका प्रेरक। मं० श्लो० ६ देखिये। श्रीरामजी ब्रह्म हैं। यथा—'*रामब्रह्म परमारथरूपा।*' (२। ९३), '*राम ब्रह्म व्यापक जगजाना।*' (१। ११६), '*राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी।*' (१। १२०)

टिप्पणी—२ यहाँ 'ब्रह्म' और 'जगदीस' दो शब्द आये हैं, इसलिये 'जगदीस' से त्रिदेवको सूचित किया है। त्रिदेव गुणाभिमानी हैं, परन्तु गुणोंके वश नहीं हैं, सब कर्मोंसे रहित हैं और जीवोंको उनके कर्मोंके अनुसार फल देते हैं। अथवा, जगदीश=लोकपाल।=इन्द्रियोंके देवता (मा० प०)। अथवा ब्रह्मनिरावरणरूप और जगदीश ईश्वर सदा स्वतन्त्र। (रा० प्र०) जीव नियम्य (परतन्त्र, पराधीन) है और जगदीश ईश्वर नियामक (स्वतन्त्र) है।

१-क्रमनासा—को० राम। कर्मनासा—१७६२। कविनासा—१६६१, १७२१, छ०, भा०, दा०, १७०४। १६६१ में 'कविनासा' मूल पाठ रहा है परंतु 'क' का 'क्र' बनाया गया है और 'बि' पर किञ्चित् हरताल है। हाशियेपर 'म' है, लेखकके हाथका सम्भव है। अयोध्याजीके महात्माओंकी पुस्तकोंमें 'कबिनासा' है। अतः हमने भी वही रखा है। विशेष पाठान्तरपर विचारमें देखिये। २-मालव-छ०, को० रा०, १७२१, १७६२। मारव-१६६१, १७०४। ३-निगमागम—१६६१। निगम-अगम—१७०४।

नोट—३ कुछ महानुभाव ऊपरकी अर्धाली *'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये।'* (६। ३) के साथ इस गणनाको लेकर शङ्का करते हैं कि 'क्या *'माया ब्रह्म जीव जगदीसा'* ब्रह्माके उपजाए हैं? यदि नहीं हैं तो उनको यहाँ क्यों गिनाया?' इसका उत्तर महात्मा यों देते हैं कि—(१) यहाँ गोस्वामीजीने दो भूमिकाएँ दी हैं, एक भले-बुरेके उपजानेकी और दूसरी गुण-अवगुण सने होनेकी। यह गणना (६। ४) *'कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥'* के साथ है। अर्थात् यहाँ कवि केवल यह गिना रहे हैं कि बिधि प्रपञ्चमें क्या-क्या गुण-अवगुण मिले पाये जाते हैं। सबका उपजाना नहीं कहा है। माया तो वह है कि *'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।'* जीव ईश्वरका अंश है और ब्रह्म श्रीरामजी हैं कि *'उपजहिं जासु अंश ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना॥'* फिर भला इनको ब्रह्माके *'उपजाये'* कैसे कह सकते हैं? (मा० प्र०) अथवा, (२) 'जो ब्रह्माके उपजाये हैं, उन्हें विधि प्रपञ्चमें गिनो और जो विधि प्रपञ्चमें नहीं हैं, उन्हें प्रपञ्चमें न गिनो। यथा—*'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुरु समीप गवने दोउ भाई॥'* (१। २३७। १) में केवल श्रीरामजीहीके सराहनेका और *'सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु। लखन भरत रिपुदमन सुनि भा कुबरी उर सालु॥'* (अ० १३) में केवल *'कुसल रामु महिपालु'* से दुःख होनेका अर्थ गृहीत है। तथा, **'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥'** मं० श्लो० १। में **'कर्त्तारौ'** शब्द वाणी और विनायक दोके विचारसे दिया गया, यद्यपि दोनों इन सबोंके कर्त्ता नहीं हैं। अर्थ करते समय किस-किसके कर्ता कौन हैं, यह पाठकको स्वयं विचारकर अर्थ करना होता है। वैसे ही यहाँ भी बचाकर अर्थ करना चाहिये। (पं० रामकुमारजी) अथवा, (३) यहाँ द्वन्द्वोंकी संख्याके निमित्त इनको भी गिनाया। (पंजाबी) अथवा (४) जो सुननेमें आवे वह सब प्रपञ्च है, शब्द सुननेमें आता है। ब्रह्म, माया, जीव शब्द इस प्रपञ्चहीमें कहे जाते हैं; इतना ही अंश लेकर इनको कहा। (रा० प्र०) अथवा (५) ब्रह्मका गुण सर्वव्यापकता है। यदि जगत् न हो तो ब्रह्मकी व्यापकता कैसे कही जा सकती है और फिर कहेगा कौन? अतः ब्रह्मका व्यापकत्व गुण लेकर यहाँ इनको गिनाकर सूचित किया कि विश्वके उत्पन्न होते ही ये भी साथ आ गये। (मा० प०, रा० प्र०) वा, (६) जगदीश=लोकपाल। शरीर पाञ्चभौतिकमें माया है। इसी मायिक शरीरमें ब्रह्म, जीव और लोकपाल सने हैं; इस प्रकारसे कि नेत्रमें सूर्य, श्रवणमें दिशा, नासिकामें अश्विनीकुमार, मुखमें वरुण, हाथमें इन्द्र, मनमें चन्द्रमा, इत्यादि। सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर एक-एक देवताका वास है और जीवको कर्मानुसार यह शरीर भोगके लिये मिला, ब्रह्म भी अन्तर्यामीरूपसे इसमें है। यथा—*'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। मनुज बास चर अचरमय रूप राम भगवान॥'* (पाँडेजी) अथवा (७) विधि प्रपञ्च=दृश्यमान् जगत्। यहाँ 'ब्रह्म' पर विशेष रूपसे कविका लक्ष्य नहीं है। यह दृश्यमान् जगत् गुण-अवगुणसे सना है। इसमें माया और ब्रह्म दोनों एक साथ सने हैं। जीव और जगदीश दोनों एक साथ सने हैं। यह सारी रचना प्रकृति-पुरुषमय होनेसे द्वन्द्व-प्रधान है। (गौड़जी) अथवा (८) 'ग्रन्थकारने एक-एकका विरोधी कहा है। जैसे, दुःखका विरोधी सुख, पापका विरोधी पुण्य, इत्यादि। आगे छठवीं चौपाईके उत्तरार्ध और सातवींके पूर्वार्धमें दो-दोके विरोधी कहे हैं, जैसे अमृत और सजीवन (जीवनके साथ) अर्थात् अमृत और जीवन इसके क्रमसे विरोधी माहुर और मृत्यु। माया और ब्रह्म इनके क्रमसे विरोधी जीव और जगदीश'। (सुधाकर द्विवेदीजी) [माया और ब्रह्म तथा जीव और जगदीशकी जो जोड़ी बनायी है, इसमें किसको भला और किसको बुरा समझा जाय, यह समझमें नहीं आता; क्योंकि प्रत्येकमें एक-एक तो अच्छा ही है। पहलेमें ब्रह्म, दूसरेमें जगदीश?] (९) (नोट)—विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके अनुसार प्रलयकालमें भी यह सारा जगत् (चित्, अचित् और ब्रह्म) सूक्ष्म-अवस्थामें अव्यक्त दशामें था। ब्रह्मकी इच्छासे यह सारा जगत् स्थूलरूपमें अनुभवमें आने लगा। इसीको सृष्टिका उत्पन्न होना कहते हैं। ब्रह्म, जीव और माया—ये तीनों तो प्रथम सृष्टिके पूर्वावस्थामें भी थे और सृष्टि होनेपर स्थूलरूपमें भी साथ ही हैं। तीनों नित्य हैं, तीनों सत्य हैं। जगत् (माया) भी सदासे है और जीव एवं ब्रह्म भी सदासे हैं। ब्रह्माको सृष्टिरचयिता कहा जाता है, वह केवल

इसलिये कि प्रभुकी इच्छासे उनके द्वारा सूक्ष्म जगत् स्थूलरूपमें परिणत होकर अनुभवमें आता है। ब्रह्म और जीव यद्यपि जगत्‌की तरह परिणामवाले नहीं हैं; तथापि देह आदिके बिना उनका भी अनुभव नहीं हो सकता। जीव और ब्रह्म भी स्थूल जगत्‌के द्वारा ही अनुभवमें आते हैं, औपचारिक कर्तृत्व ब्रह्माका कह सकते हैं। वस्तुत: ब्रह्ममें सूक्ष्म-स्थूल भेद कोई भी नहीं है। वह तो एकरस सर्वव्यापक है परन्तु व्याप्य जगत् और जीवके सूक्ष्म और स्थूल रूपके कारण ब्रह्मके भी सूक्ष्म और स्थूल दो रूप कहे जाते हैं। वैसे ही यहाँ भी सृष्टिमें उनकी गणना की गयी। इस तरह यह शङ्का ही उपस्थित नहीं हो सकती। अथवा, (१०) गुण-अवगुण दो तरहके हैं। १-कारण, २-कार्य। माया, ब्रह्म, जीव और जगदीश कारण गुण-अवगुण हैं। ब्रह्म आप ही चार लीलारूप धारण किये हैं। इन चारोंके जो कार्य गुण-अवगुण हैं उनके कर्त्ता विधि हैं। अर्थात् मायाका कार्य स्वर्ग, नरक, मृत्युलोकको प्राप्ति; ब्रह्मका कार्य सबको चेतन करना; जीवका कार्य हर्ष, शोक इत्यादि; जगदीशका कार्य उत्पत्ति, पालन, संहार है। ब्रह्मका प्रपञ्च कार्यरूप गुण-अवगुणमय है, उसमें ब्रह्मसे चारों रूप उसकी इच्छासे कारणरूप गुण-अवगुणमय हैं। (करु०)। परब्रह्म-के चार स्वरूप ये हैं। १ ब्रह्मरूप सबका साक्षी, ईश्वररूप प्रदाता। २ जीवरूप भोक्ता। ३ माया इच्छाभूत। ४ भोग्य। (करु०) (११) ब्रह्मादि देवताओंकी प्रार्थनासे उनकी रची सृष्टिमें माधुर्य स्वरूपसे अपना ऐश्वर्य छिपाये हुए परब्रह्म प्रकट हुए। (१।४८,१।१९१) इस भावको लेकर उपजाये कहे जा सकते हैं। (रा० प्र०) (१२) वे० भू० रा० कु० दा०—'**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च**"""।' इस वैदिक श्रुतिके अनुसार माया, ब्रह्म और जीव तो किसीके बनाये नहीं हैं, तीनों नित्य हैं। और 'विधि' भी अपने ही बनाये नहीं हैं, भगवान्‌के बनाये हैं। सृष्टिक्रम बताते हुए शास्त्र कहता है कि '**अण्डमण्डकारणानि च चतुर्मुखं च स्वयमेव सृजति अण्डान्तर्गतवस्तूनि चेतनान्तर्यामी सन् सृजति।**' अर्थात् प्रकृतिसे महत्तत्त्वाहङ्कार, पञ्चतत्त्व, पञ्चविषय और एकादश सूक्ष्मेन्द्रिय; और चतुर्मुख ब्रह्माके शरीरकी रचना स्वयं ब्रह्म करता है। ब्रह्माण्डान्तर्गत अन्य वस्तु जैसे दु:ख-सुख आदि (माया, ब्रह्म, जीव, जगदीशको छोड़कर) बत्तीस जो यहाँ गिनाये गये हैं, इन्हें ब्रह्मादि चेतनोंके अन्तर्यामी होकर अर्थात् इन्हींको निमित्त बनाकर रचना करता है जिससे वे तत्तद्रचित कहे जाते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि यहाँ वर्णित दु:ख-सुखादि बत्तीस विधिने बनाये हैं और माया, ब्रह्म, जीव और जगदीश, (ब्रह्मा) ये चारों इन्हींमें सने हैं। सनी हुई वस्तु मध्यमें रहती है; इसीसे इनको सोलह-सोलहके बीचमें रखा है। (१३) वैजनाथजी लिखते हैं कि पूर्व लिखा गया कि गुण-अवगुण जो सने हुए हैं वे तीन प्रकारके हैं। उन तीनोंके यहाँ बारह-बारह उदाहरण देते हैं। (क) पाप-पुण्य, सुजाति-कुजाति, अमृत-विष, जीव-जगदीश, काशी-मग और महिदेव-गवासा इन बारहमें 'साधारण गुण' कहे। (ख) दु:ख-सुख, साधु-असाधु, ऊँच-नीच, माया-ब्रह्म, रंक-अवनीश, सुरसरि-कबिनासा ये मुख्य गुण-अवगुण सनेके उदाहरण हैं। (ग) दिनमें प्रकाश गुण और घामादि अवगुण, रात्रिमें अन्धकार अवगुण और शीतलतादि गुण, दानवमें उपद्रव अवगुण और वीरता, उदारता आदि गुण, देवताओंमें शान्ति गुण और स्वार्थपरायणता अवगुण। जीवित रहना गुण और दु:खभोग अवगुण, मृत्युमें मर जाना अवगुण पर अयशी, दु:खी, अतिवृद्ध, मुक्तिभागी आदिके लिये मृत्यु गुण। संपत्ति-सञ्चयमें भोजनवस्त्रादि भोगसुख गुण और अभिमानादि अवगुण, दरिद्रतामें दु:खभोगादि अवगुण और अमानता, दीनता गुण। मारवाड़में दुर्भिक्ष अवगुण और कभी-कभी तथा किसी-किसी वस्तुका सुख भी, मालवामें सदा सुभिक्ष गुण और कभी किसी बातका दुर्भिक्ष भी। स्वर्गमें सुखभोग गुण और सुकृत व्यापारका न होना अवगुण, नरकमें दु:खभोग अवगुण पर साँसतिके कारण जीवमें विकार नहीं रहता, चैतन्यता रहती है यह गुण, ये कारण गुण-अवगुण सनेके उदाहरण हैं। (बैजनाथजी अनुराग-बिरागको गुण-अवगुणमें नहीं गिनते। वे अर्थ करते हैं कि 'गुणोंमें अनुराग चाहिये और अवगुणोंसे वैराग्य होना चाहिये।') ये गुण-अवगुण कैसे जाने जायँ? उसपर कहते हैं '*निगमागम गुन दोष बिभागा।*'

नोट—४ '*कासी मग सुरसरि कबिनासा*' इति। काशी मुक्ति देती है। यथा—'*आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं॥*' (१। ४६), 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' श्रुति। 'मग'—मगह, मगहर और मगध इसीके नाम हैं। त्रिशंकुके रथकी छाया जिस भूमिपर पड़ती है उस देशका नाम मगह (मगध) है, जो दक्षिण बिहारका प्राचीन नाम है। यह छियानबे कोश पूर्व-पश्चिम और चौंसठ कोश उत्तर-दक्षिण है। कहते हैं कि यहाँ मरनेसे सद्गति नहीं होती; यह गुरुद्रोहका फल है। त्रिशंकुकी कथा '*कबिनासा*' में देखिये। सुरसरि स्वयं पावन हैं और त्रैलोक्यको पावन करनेवाली हैं तथा मुक्ति देनेवाली हैं, भगवान्‌के दक्षिण अँगूठेसे इनकी उत्पत्ति होती है। कविनाशा (कर्मनाशा) अपवित्र है, स्नान करनेवालोंके सुकृतोंकी नाशक है और गुरुद्रोही, चाण्डाल त्रिशंकुके शरीरके पसीने और मुखके लारसे इसकी उत्पत्ति है। यह नरकमें डालनेवाली है।

'*कबिनासा*' इति। इस नदीका सम्बन्ध राजा त्रिशंकुसे है। इसने चाहा था कि यज्ञ करके इसी शरीर-सहित स्वर्गको जायँ। उसने गुरु वसिष्ठजीसे अपनी कामना प्रकटकर यज्ञ करानेकी प्रार्थना की। उन्होंने समझाया कि सशरीर स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तब वह वसिष्ठजीके पुत्रोंके पास गया और उनसे यज्ञ करानेकी प्रार्थना की। वे बोले कि जब पिताजीने नहीं कर दिया तब हम ऐसा यज्ञ कैसे करा सकते हैं। इसपर राजाने कहा कि हम दूसरा गुरु कर लेंगे। यह सुनकर पुत्रोंने शाप दिया कि चाण्डाल हो जा। तदनुसार राजा चाण्डाल हो गया। फिर वह विश्वामित्रजीकी शरणमें गया और हाथ जोड़कर उनसे अपनी अभिलाषा प्रकट की। उन्होंने यज्ञ कराया पर देवताओंने हविर्भाग न लिया। तब वे केवल अपनी तपस्याके बलसे उसको सशरीर स्वर्ग भेजने लगे, यह देखकर इन्द्रने उसे मर्त्यलोककी ओर ढकेल दिया जिससे वह उलटा (सिर नीचे, पैर ऊपर) त्राहि-त्राहि करता हुआ नीचे गिरा। विश्वामित्रने अपने तपोबलसे उसे आकाशमें ही रोककर दक्षिणकी ओर दूसरे ही स्वर्गकी रचना आरम्भ कर दी। देवताओंकी प्रार्थनापर विश्वामित्रजीने सप्तर्षि और नक्षत्र जो बनाये थे उतने ही रहने दिये और कहा कि त्रिशंकु जहाँ है वहीं रहेगा। (वाल्मी० १। ५७) उसके शरीरसे जो पसीना और मुखसे लार गिरी वही कर्मनाशा नदी हुई। कोई कहते हैं कि यह रावणके मूत्रसे निकली है पर कुछ लोगोंका मत है कि प्राचीन कालमें कर्मनिष्ठ आर्य ब्राह्मण इस नदीको पार करके कीकट (मगध) और वङ्ग देशमें नहीं जाते थे; इसीसे यह अपवित्र मानी जाती है। यह शाहाबाद जिलेके कैमोर पहाड़से निकलकर चौसाके पास गङ्गाजीमें मिली है।

'*कबिनासा*' 'क्रमनासा' पाठपर विचार। दोनों पाठ 'कर्मनासा' हीके बोधक हैं। कभी-कभी कविजन अपने अधिकृत वृत्त या छन्दमें बैठाने और खपानेके लिये किसी नाम वा शब्दके अक्षरोंका सङ्कोच करके उसका लघु रूप दे देते हैं। उससे भी उसके उसी बृहत् और पूर्ण रूपका बोध होता है और उसी मूलार्थका ग्रहण किया जाता है। क्योंकि ऐसा न्याय है '**नामैकदेशे नामग्रहणम्।**' पुरातन कविलोग प्रायः इस न्यायका अनुसरण करते थे। प्रसिद्ध टीकाकार श्रीमल्लिनाथसूरिने 'किरातार्जुनीय' के '**कथाप्रसंगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः। तवाभिधानाद् व्यथते नताननः सुदुस्सहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥**' इस श्लोकके '**तवाभिधानात्**' की टीका करते हुए '**तव**' का उरग पक्षमें इस प्रकार अर्थ किया है। '**नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणमिति न्यायात्।**' '**तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभिधानं यस्मिन्पदे तस्मात्।**' अर्थात् 'तव' के 'त' अक्षरसे तार्क्ष्य और 'व' से वासुकी नामक नागराजका ग्रहण हुआ। इसी प्रकार '*कबिनासा*' के 'क' अक्षरसे कर्म माना जायगा। कर्मका ही लघु या सांकेतिक रूप 'क' है और उसका अर्थ भी कर्त्ता, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मपरक है जो कर्मके अधिष्ठातृ देव हैं। फिर 'क' सूर्यको भी कहते हैं जो कर्मका सञ्चालक है '**मारुते वेधसि वन्धे पुंसिकः कं शिरोम्बुनोः**' (अमरकोश) (व्यासजी, पं० श्रीहनुमत्प्रसाद त्रिपाठी)

गौड़जी—***कबिनासा*** (कं=आनन्द, बिनासा=नाशक) =स्वर्गके आनन्दको विनाश करनेवाली नदी। 'नाक' शब्दका भी इसी प्रकार (न+अ+कं=नाकम्) अर्थ करते हैं। '*कबिनासा*'=कर्मनासा नदी जो सत्कर्मोंका ही नाश करती है।

'क्रमनासा' से *'कबिनासा'* पाठ अच्छा है क्योंकि 'कर्म' शब्दमें सत् और असत् दोनोंका ही समावेश है। परन्तु यहाँ केवल सत्कर्म ही अभिप्रेत है। इस तरह कर्मनाशामें अतिव्याप्ति दोष है। कबिनासामें अतिव्याप्ति नहीं है। हाँ, अप्रसिद्धि कह सकते हैं।

नोट—५ आदिमें लिखा है कि *'कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधिप्रपंच गुन अवगुन साना॥'* और अन्तमें लिखते हैं कि *'निगम अगम गुन दोष बिभागा।'* इससे यह जनाया कि गुण-अवगुण सानेका स्वरूप और उन (गुण-अवगुण) के विभागका स्वरूप दोनों वेद-पुराणोंमें दिखाये गये हैं। (पं० रामकुमार)

दो०—जड़ चेतन गुन दोष मय बिश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं[1] पय परिहरि बारि बिकार॥ ६॥

शब्दार्थ—**बिश्व**=संसार। **करतार** (कर्त्तार)=ब्रह्मा, परमेश्वर। **पय**=दूध। **बारि**=जल। **बिकार**=दोष। **गहहिं**=ग्रहण करना; लेना।

अर्थ—इस जड, चेतन और गुणदोषमय विश्वको ब्रह्माने रचा है। सन्तरूपी हंस दोषरूपी जलको छोड़कर गुणरूपी दूधको ग्रहण करते हैं॥ ६॥

नोट— यहाँ गुण, दोष और जड, चेतनको ब्रह्माका बनाया नहीं कहा।

टिप्पणी—१ (क) अब *'बिधिप्रपंच गुन अवगुन साना'* का स्वरूप दिखाते हैं कि दूध-पानीकी नाईं मिला है। पहले साना कहकर यहाँ विभाग किया कि दूध और पानी मिला है, सन्तने दूध-पानीके स्वरूपको अलग कर दिया। (ख) सन्तको हंसकी उपमा देनेका भाव यह है कि जैसे दूधमें जल मिला हो तो पहचाननेवाले बता देंगे कि इसमें कितना जल है और कितना दूध; इसी तरह वेद-शास्त्र बताते हैं कि प्रत्येक वस्तुमें क्या गुण है और क्या दोष। परन्तु जैसे दूधमेंसे जल निकालकर दूध-दूध हंस पी लेता है, ऐसा विवेक हंसको छोड़कर और किसीमें नहीं है, वैसे ही दोषको छोड़कर केवल गुण सबमेंसे निकालकर ग्रहण कर लेना, यह केवल सन्तहीका काम है, दूसरेमें यह सामर्थ्य नहीं। यथा—*'सगुन षीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥ भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥ गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उँजियारी॥'* (अ० २३२) ☞ इससे विदित होता है कि कर्त्तारसे अधिक उपकार वेदोंने किया है और उनसे अधिक उपकार सन्त करते हैं। (ग) सन्त-असन्तके गुण-दोष संग्रह-त्यागहीके अर्थ बखाने हैं। इनके द्वारा सबको प्राप्त हो सकते हैं; क्योंकि इन्होंने गुण-दोषको अलग-अलग कर दिये हैं।

सुधाकर द्विवेदीजी—इस दोहेसे ग्रन्थकारने यह सूचित किया है कि इस संसारमें जो दोषोंसे बचा रहे, गुणोंहीको ग्रहण करे, वही सन्त है। इस प्रकारसे यह दोहा सन्तका लक्षणरूप है।

अलङ्कार—सन्तमें हंसका आरोप किया गया, इसलिये गुणमें दूध और विकारमें जलका आरोप हुआ। यहाँ 'परम्परितरूपक' है।

अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता॥ १॥

शब्दार्थ—राता=रत होता है, लगता है। अनुरक्त होता है।

अर्थ—जब विधाता ऐसा (हंसका-सा) विवेक दें, तभी दोषको छोड़कर गुणहीमें मन रत (अनुरक्त) होता है॥ १॥

टिप्पणी—१ 'यहाँ विवेकप्राप्तिके दो कारण लिखे, एक सत्संग, दूसरा विधि। क्योंकि जगत् विधाताका बनाया है। यथा—*'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये।'* सो जब वे ही विवेक दें कि हमने ऐसा बनाया है, यह दोष है, यह गुण है, तब विवेक होवे। पुनः, सन्त विधिके बनाये हुए गुणको ग्रहण किये हैं,

---

[1] ग्रहहिं—१७२१, १७६२, छं०, १७०४ (शं० ना०), परन्तु रा० प० में 'गहहिं' है। १६६१ में 'ग्रहहि' था पर हरताल देकर 'गहहिं' बनाया है।

दोषको त्यागे हैं। अतः इनके सत्सङ्गसे विवेक हो सकता है।' २ 'वेदका बताया हुआ न समझ पड़ा, तब कहा कि *'अस बिबेक जब देइ बिधाता।'* क्योंकि जो वेदके बतानेमें विवेक होता तो विधाताके देनेका कौन काम था?'। ३ 'प्रथम सन्तोंके गुण-दोष निरूपण किये, फिर विधिप्रपञ्चद्वारा सन्त-असन्तके गुण-दोष कहे, अब तीसरा प्रकार लिखते हैं'।

काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ[1] प्रकृति बस चुकइ भलाई॥ २॥
सो सुधारि हरिजन[2] जिमि लेहीं। दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं॥ ३॥
खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू॥ ४॥

शब्दार्थ—बरिआई=बलात्, जबरदस्ती, जबरई। अभंगू=न भङ्ग होनेवाला, अमिट, दृढ़, अनाशवान्। प्रकृति=माया। दलि=नाश करके।

अर्थ—(१) कालके स्वभावसे, कर्मकी प्रबलतासे मायाके वश होकर भले भी भलाईसे चूक जाते हैं॥ २॥ उस चूकको जैसे हरिजन सुधार लेते हैं और दुःख-दोषको दलकर निर्मल यश देते हैं (वैसे ही) खल भी सुसंग पाकर भलाई करते हैं। (खलतासे चूक जाते हैं। परन्तु) उनका मलिन स्वभाव अभंग है, मिटता नहीं।[3] (पं० रामकुमार, मानस पत्रिका ३-४)।

अर्थ—(२) काल, स्वभाव और कर्मकी प्रबलतासे मायाके वश भला भी भलाईसे चूक जाता है॥ २॥ उस चूकको भगवद्भक्त सुधार लेते हैं, दुःख-दोषको मिटाकर निर्मल यश देते हैं जैसे खल भी सत्संग पाकर भलाई करने लगते हैं (परन्तु) उनका मलिन स्वभाव, जो अमिट है, नहीं छूटता। ३-४ (मानस परिचारिका)।[4]

---

१ पाठान्तर—'भलउ'—(व्यासजी)। २ 'हरितन'—यह पाठ दो-एक प्राचीन प्रतियोंमें मिलता है। काशिराजकी रामायण-परिचर्या और सन्त-उन्मनी टीकामें भी यही पाठ है। 'जिमि' का 'जैसा' अर्थ है; यह अर्थ लेनेसे आगे-पीछेकी चौपाइयोंसे सम्बन्ध मिलाते हुए शब्दार्थ और अन्वय करनेमें जो अड़चनें पड़ रही हैं—ये 'हरितन' पाठमें नहीं बाधा डालतीं। 'हरिजन' पाठमें आगे-पीछेकी चौपाइयाँ ठीक-ठीक नहीं लगतीं, इसमें श्रीद्विवेदीजी भी सहमत हैं। 'हरितन' पाठ लेकर सन्त श्रीगुरुसहायलालजीने कई प्रकारसे अर्थ किया है। रामायण-परिचर्यामें अर्थ यों किया है कि 'सो साधुओंकी चूक हरि आप सुधार लेते हैं।' जैसे कोई राहमें चलते पाँव ऊँचा-नीचा पड़नेसे गिर पड़े तो उसीका आत्मा 'तनुको झाड़-पोंछ धोय' लेता है, औषधियोंसे चोटको भी सँवारता है और फिर यह दशा नहीं आने देता; अपनी चूकको उपदेश मान लेता है'। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'यहाँ तनकी उपमा देकर साधुओंको हरिका तन जनाया, ताते (इसलिये) हरिकी प्रीति साधुमें विग्रहवत् ठहराया'। मा० त० वि०—'तन=अल्प (तनुः काये कृशे चाल्पे विरलेऽपि च वाच्यवत्) जैसे अल्प ही चूक हो तद्वत् हरि उसे सुधार लेते हैं।'

३ पं० रामकुमारजी 'जिमि' पद 'सो सुधारि हरिजन' के साथ लेकर 'तिमि' पद आगेकी चौपाईमें लगाते हैं और यों अर्थ करते हैं कि 'तैसे ही खलको खल सुधार लेते हैं, भलाईसे निवृत्त करके मलिन कर्ममें प्रवृत्त करते हैं। सत्संग-जनित धर्म और यशको नाश करके अधर्म और अपयशको प्राप्त करते हैं क्योंकि खलका मलिन स्वभाव अभंग है, मिटता नहीं; सत्संग पाकर भी न मिटा। जैसे सन्तोंका निर्मल अभंग स्वभाव कुसंगसे न मिटा। साधुके संगसे अधर्म धर्मसम होता है, असाधुके संगसे धर्म अधर्मसम होता है।'

इस प्रकार इस अर्थमें अपनी ओरसे बहुत-से शब्द जो कोष्टकमें दिये जाते हैं, बढ़ाकर अन्वय ठीक हो सकता है। (जब) भले भलाईसे काल स्वभावादिके वश हो जाते हैं (तब) जैसे हरिजन.....(वैसे ही खल खलोंको सुधार लेते हैं; जब वे) खल सत्संग पाकर (अपनी खलतासे चूककर) भलाई करने लगते हैं क्योंकि उनका स्वभाव.....।' सुधाकर द्विवेदीजी इस अड़चनको बचानेके लिये 'सो सुधारि' इस अर्द्धालीका अर्थ यों करते हैं 'परन्तु महात्मा लोग अच्छे लोगोंके दोषोंको सुधारकर, जिमि लेहीं (=जें लेते हैं) अर्थात् उस सन्तको शुद्धकर उसके दोषोंको खा लेते हैं (खा डालते हैं)'। और लिखते हैं कि 'ऐसा अर्थ करनेसे चौपाइयोंकी संगति हो जाती है।' (मा० प०)

४ मा० प्र०—'यहाँ अर्थ अवरेबसे किया गया है, 'जिमि' वाचक पद आगेकी चौपाईके साथ है। 'जिमि' को 'हरिजन' के साथ लगानेमें कोई उपमेय ठीक नहीं जान पड़ता।'

नोट—१ इन चौपाइयोंमें यह दिखाया है कि जो भले हैं उनके अन्तःकरणमें भलाई बनी हुई है; इसीसे यदि वे काल-कर्मादिकी प्रबलतासे कभी कुमार्गमें पड़ गये तो भी जैसे ही सन्तोंका सङ्ग उन्हें मिला, वे सुधर जाते हैं। खल स्वाभाविक ही मलिन होते हैं। यदि दैवयोगसे उनको सत्संग प्राप्त हुआ तो वे सुमार्गपर चलने लगते हैं, परन्तु ज्यों ही उन्हें कुसङ्ग मिला वे भलाई छोड़ अपने पूर्व स्वभावको ग्रहण कर लेते हैं।

नोट—२ *'काल सुभाउ करम बरिआई।.....'* इति। गोस्वामीजीने अन्य स्थानोंपर भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'काल, करम, गुन, सुभाउ सबके सीस तपत।'* (वि० १३०) *'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि। रबिहि राहु राजहिं प्रजा बुध ब्यवहरहिं बिचारि॥'* (दोहावली ५०४) और इनसे बचनेकी युक्ति भी श्रीरामचरितमानसहीमें बता दी है कि *'काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥'* *'नट कृत कपट बिकट खगराया। नट सेवकहिं न ब्यापहिं माया॥'* *'हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं। भजिय राम सबकाम तजि अस बिचारि मन माहिं॥'* (७। १०४) यहाँ प्रायः लोग यह शङ्का किया करते हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी हरिभक्त सन्त भी काल-कर्मके कठिन भोगोंको भोगते हुए देख पड़ते हैं और ग्रन्थकारने स्वयं ही कहा है कि *'कालकर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत'* तो ये दोनों तो परस्पर विरोधी बातें हैं, इनमें संगति कैसे हो?

इस विषयमें *'नहिं ब्यापहिं'* पदपर विचार करनेसे यह विवाद रह ही नहीं जाता। सन्त, हरिभक्त, ज्ञानी, ध्यानी सभी अवश्य प्रारब्ध भोग करते हैं। यह शरीर ही प्रारब्धका स्थूल रूप है, ऐसा भी कहा जा सकता है और शरीर प्रारब्ध कर्मोंके भोग करनेके लिये ही मिलता है पर उनको दुःखका उतना भान नहीं होता, सूलीका साधारण काँटा हो जाता है। क्योंकि उनका मन तो नित्य-निरन्तर भगवान्‌में अनुरक्त रहता है। *'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥'* (अ० २७५) जो

नोट—अर्थ (१) में 'कालके स्वभाव और कर्मकी प्रबलता' ऐसा अर्थ किया गया है और अर्थ (२) में काल, स्वभाव और कर्म तीनोंको पृथक्-पृथक् मानकर अर्थ किया गया है।

'कालके स्वभावसे' और 'कर्मकी प्रबलतासे' इन दोनोंका भाव एकही-सा जान पड़ता है, इससे काल और स्वभाव दोनोंको अलग-अलग लेनेसे एक बात और बढ़ जाती है और गोस्वामीजीने अन्यत्र इनको अलग-अलग लिखा भी है। यथा—'कालके, करमके सुभायके, करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिये।' (बाहुक) पुनः, यथा—'काल, करम, गुन, सुभाउ सबके सीस तपत।' (विनय० १३०)

'समय (काल), लिखनेका कारण यह है कि समय अत्यन्त प्रबल होता है। यथा, 'समय एव करोति बलाबलम्।' यह एक ही है जो मनुष्यको कमजोर और जोरावर बनाता है। 'कालो जयति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः स्वप्ने च जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥' अर्थात् काल सब जीवोंको जीत लेता है, प्रजाका संहार करता है। वह स्वप्नमें भी जागता रहता है, अतः कालका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। समयको कोई दबा नहीं सकता। समय जबरदस्त होता है एवं स्वभाव भी अमिट होता है। 'स्वभावो यादृशो यस्य न जहाति कदाचन।' बिहारीने भी लिखा है कि 'कोटि जतन कीजै तऊ प्रकृतिहिं परै न बीच। नल बल जल ऊँचो चढ़ै अन्त नीचको नीच॥' एवं प्रारब्ध भी 'प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति।' श्रुतिमें भी लिखा है 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।' एवं प्रारब्ध भी बलवान् होता है। ये तीनों आपसमें एक-दूसरेसे चढ़े-बढ़े हैं।' (सू० मिश्र)

निकृष्ट कालमें शुभ कार्य भी करो तो सिद्ध नहीं होता। देखिये राजा परीक्षित्‌पर कलियुगका प्रभाव पड़ ही तो गया, उसने राजाकी मति फेर ही तो दी, जिससे राजा भलाईसे चूक गये और मुनिके गलेमें साँप डाल दिया। पुनः, दुर्भिक्ष आदि आपत्तिमें कितने ही अपने धर्मको तिलाञ्जलि दे देते हैं।

कर्म तीन प्रकारके होते हैं। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पूर्वजन्मोंमेंसे कुछ कर्म प्रारब्धरूप होकर इस शरीरमें भोगनेको मिलते हैं। कर्मकी प्रबलतासे राजा नृगको दत्तगौके पुनर्दानसे गिरगिट होना पड़ा। 'प्रकृति' (अर्थात् माया) के वश सतीजी भलाईसे चूकीं कि पतिसे झूठ बोलीं। यथा— 'बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥' (१। ५६)

विषय-भोगमें प्रवृत्त रहते हैं, उनको दु:ख-सुख पूर्ण रीतिसे व्यापता है, हरिचरणरत सन्तोंको दु:खके अनुभव करनेका अवसर ही कहाँ? इसीसे उनपर काल कर्मादिका प्रभाव नहीं जान पड़ता। जैसा कहा है, *'ज्ञानी काटै ज्ञानसे, मूरख काटै रोय।'* यही तो अन्तर साधारण जीवों, भगवद्भक्तों और ज्ञानियोंमें है। काल, कर्मपर विशेष पिछली पादटिप्पणीमें आ गया है।

अर्थ—(३) सो (उस चूकको वा उनको) हरि (भगवान्) जनकी नाईं (तरह) सुधार लेते हैं और उनको दु:ख-दोष दूर करके निर्मल यश प्राप्त करा देते हैं।* (रा० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) अब धर्मके द्वारा सन्त-असन्तके गुण-दोष दिखाते हैं। 'कालके स्वभावसे, कर्मकी बरिआईसे' यह अर्थ ठीक है, क्योंकि साधुका स्वभाव समीचीन है, उसके वशसे, भलाईसे कैसे चूकें? † सत्सङ्ग पाकर खल भलाई करते हैं; इससे यह न समझना कि कुसङ्ग पाकर साधु चूकते होंगे। साधु कुसङ्ग पाकर नहीं चूकते, वे तो *'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।'* (१। ३) इसीलिये कालस्वभाव-कर्ममायाके वश भलेका चूकना कहा, न कि साधुका। अथवा, (ख) जो सन्त हंसरूपी हैं वे कालादिके वश कभी नहीं चूकते। यथा, *'कोटि बिघ्न ते संतकर मन जिमि नीति न त्याग।'* (६। ३३) जैसे हंस दूध ही ग्रहण करते हैं, पानी नहीं; वैसे ही जिन्होंने हंसका-सा विवेक विधातासे नहीं पाया है, वे कालादिकी बरिआईसे चूकते हैं और उनको हंसरूपी सन्त सुधारते हैं। तात्पर्य यह है कि सामान्य सन्त चूकते हैं, विशेष सन्त सुधारते हैं।

नोट—३ यहाँ सुधारनेमें 'हरिजन' शब्द है और पूर्व 'चूकने' में 'भलेउ' शब्द है। शब्दोंके भेदसे सूचित करते हैं कि 'भले' वे हैं कि जिनको विधातासे हंसका-सा विवेक मिला है पर जो 'हरिजन' नहीं हैं वे चूक जाते हैं, क्योंकि उनके कर्मानुसार विधाताने विवेक दिया जो कालादिकी प्रबलतासे जाता रहा। 'हरिजन' इन भले जनोंको सुधार लेते हैं और स्वयं नहीं चूकते, क्योंकि ये तो सदा भगवान्के आश्रयमें रहते हैं, इनको सदा भगवान्का बल है तब भला *'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू।'* (२) *'चुकइ भलाई'* से ध्वनित होता है कि भलाईसे चूकते हैं पर मन सात्त्विक ही बना रहता है। (बाबा हरिदास)। ३ *'मिटै न'''''* इति। यहाँ दिखाया कि सन्त और खल दोनोंका ही स्वभाव अटल है। कुसङ्ग पाकर भी सन्तका स्वभाव निर्मल ही रहता है और सुसङ्ग पाकर भी खलका स्वभाव मलिन ही रहता है। ४ पं० सूर्यप्रसाद मिश्र—'इस लेखसे ग्रन्थकारने यह भी सिद्धान्त किया कि साधुका लक्षण धर्ममय और असाधुका लक्षण अधर्ममय ठीक नहीं है। अब ग्रन्थकार अगली चौपाई (*सो सुधारि*) से यह दिखलाते हैं कि ऊपरकी बातें (*काल सुभाउ*) तो ठीक हैं पर भक्तोंके लिये नहीं, क्योंकि भक्तोंकी चूक तो आप-ही-आप महाराज सुधार लेते हैं और पापीको प्रायश्चित्त कराके उसके दु:खको नाशकर निर्मल यश प्राप्त कर देते हैं।'

टिप्पणी—२ (क) *'सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं'* इति। भाव यह है कि सन्तोंका यह सहज स्वभाव है, इसीसे वे सुधार लेते हैं। यथा—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै*

---

* इस अर्थमें 'हरि जन जिमि' ऐसा अन्वय किया गया। पुनः, ऐसा भी अन्वय सन्त-उन्मनी टीकाकारने किया है—'हरि जन (चूक) जिमि सुधारि लेहीं तद्वत् दुखदोष दलि सो (उसे) बिमल यश देहीं', अर्थात् हरि जनकी चूक जैसे सुधार लेते हैं, वैसे ही उसके दु:ख-दोषको दलकर उसे विमल यश देते हैं। भगवान् अपने दासोंकी चूक सुधारते आये हैं, वैसे ही अब भी सुधारते हैं। मिलान कीजिये, 'रहति न प्रभु चित चूक किये की', 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥' 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ', 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती।' इत्यादि।

† सू० मिश्रजी और मानस मयङ्ककारने 'काल, कर्म, स्वभाव ऐसा ही अर्थ किया है। इनका मत टिप्पणी (ख) से मिलता है कि 'भलेउ' और 'हरिजन' में भेद है। भले कर्म, स्वभाव, कालके वश चूकते हैं पर रामभक्त कदापि नहीं चूकते, वे दूसरोंकी चूकको सुधारते हैं।

करनी॥' (७। १२५), ***'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'*** (७। १२१) राजा परीक्षित्‌की चूक हरिजन शुकदेवजीने सुधार दी और सतीकी चूक शिवजीने। (ख) ***'दुख दोष'*** इति। बुरा कर्म दोष है, दोषका फल दुःख है। यथा—***'करहिं पाप पावहिं दुखहिं भवरुज सोक बियोग', 'नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महाभव भीरा॥'*** (७। ४१) मनमें चूक होनेका दुःख हुआ और चूक ही दोष है; इन दोनोंको मिटा देते हैं। (नोट—मिश्रजी कहते हैं कि प्रसङ्गानुकूल 'दुःख-दोषसे पाप और पापजनित दुःखका तात्पर्य नहीं हो सकता। 'दुःख-दोष' एक शब्द मानना ही ठीक होगा।) (ग) ***'बिमल जसु देहीं'*** इति। अर्थात् उनको संसारमें निर्मल यश प्राप्त करा देते हैं। सुयशका भाजन बना देते हैं, सभी उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। यश धर्मका फल है, अतः यह भी भाव निकलता है कि भगवद्भक्तों वा भगवत्-कृपासे अधर्म भी धर्मका फल देता है। [पुनः, कुछ लोगोंके मतानुसार ***'बिमल जस'*** से 'निर्मल भगवद्यश' का तात्पर्य है; जैसे परीक्षित्‌जी, सतीजी और काकभुशुण्डिजीको मिला।] (घ) ***'अभंगू'*** से सूचित किया कि अनेक जन्मोंसे ऐसा स्वभाव पड़ता चला आया है; इसीसे अमिट है।

नोट—४ यहाँ यह शङ्का प्रायः सभीने की है कि पूर्वमें कहा है कि, ***'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।'*** और यहाँ कहते हैं कि ***'मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू।'*** इसमें पूर्वापर विरोध-सा दीखता है? और इसका समाधान भी अनेक प्रकारसे किया गया है—(१) यहाँ 'खल' का स्वभाव कहा गया है और पहले 'शठ' का। यही 'शठ' और 'खल' में भेद दिखाया। खल और शठके लक्षण दोहावलीमें यों कहे हैं। ***'जो पै मूढ़ उपदेश के होते जोग जहान। क्यों न सुयोधन बोधि कै आये श्याम सुजान॥'*** (४८३), ***'फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद। मूरख हृदय न चेत जो गुर मिलै बिरंचि सम॥'*** (४८४), ***'जानि बूझि जो अनीति रत जागत रहइ जो सोइ। उपदेसिबो जगाइबो तुलसी उचित न होइ॥' 'सठ सहि साँसति पति लहत सुजन कलेस न कायँ। गढ़ि गुढ़ि पाहन पूजिऐ गंडकि सिला सुभायँ॥'*** (३९२) (२) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि सामान्य खल सत्संगसे सुधरते हैं, उन्हींको 'शठ' कहा था और यहाँ विशेष खलको कहा है कि जिनका मलिन स्वभाव सत्सङ्गसे भी नहीं मिटता। (३) यदि 'शठ' और 'खल' को एक ही मानें तो उत्तर यह होगा कि सुधरना तो दोनों ठौर कहा है, ***'सठ सुधरहिं'*** और ***'खलउ करहिं भल।'*** 'पूर्वके किञ्चित् सुषुप्त संस्कारको जागृत् कर देना' सत्संगहीका काम है। जिनकी क्रूर बुद्धि है वे नाना धर्म-कर्म-ज्ञान, ईश्वर-चिन्तनमें प्रवृत्त हो जाते हैं पर रजोगुण वा तमोगुण संसृष्ट स्वभाव नहीं जाता, क्योंकि प्रकृति जो पड़ गयी सो पड़ गयी। ***'चोर चोरीसे गया न कि हेरा फेरीसे'*** यह लोकोक्ति है।' पुनः जहाँ ***'मूरख हृदय न चेत'*** कहा है, वह खपुष्प इव दृष्टान्त है' (सन्त-उन्मनीटीका)। (४) श्रीजानकीशरणजीका मत है कि ***'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।'*** में शठका सुधरना पारसके स्पर्शसे लोहेके सुधरनेके समान कहकर कविने शठका सुधरकर बाहर-भीतरसे पूरा सन्त हो जाना बताया है, न कि केवल 'नाना धर्म, कर्म, ज्ञान, ईश्वरचिन्तनमें प्रवृत्त होना' और भीतरसे रजोगुण-तमोगुणसंसृष्ट स्वभाव बना रहना। खल और शठमें भेद है। ग्रन्थभरमें ***'खल'*** की जगह ***'शठ'*** कहीं नहीं है। हाँ, दुष्ट अवश्य है। यथा, ***'दुष्ट उदय जग आरति हेतू।'*** खलको असन्त और असज्जन भी लिखा है। यथा, ***'सुनहु असंतन केर स्वभाऊ', 'बंदौं संत असज्जन चरना।'*** (५) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि पारसके स्पर्शसे लोहा सोना तो हुआ पर स्वभावकी कड़ाई न गयी, जैसे नीमकी लकड़ी मलयप्रसंगसे चन्दन हो गयी पर उसकी कड़वाहट न गयी। वैसे ही खल सुधर जाते हैं, स्वभाव नहीं मिटता। (रा० प्र०)

लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥ ५॥
उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥ ६॥
कियेहु कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥ ७॥

शब्दार्थ—**लखि**=देखकर। **सुबेष** (सुवेष)=सुन्दर वेष; सुन्दर बाना। **बंचक**=ठगनेवाले वा छल करनेवाले, ठग, कपटी। **जेऊ**=जो भी। **प्रताप**=प्रभाव, महिमा, महत्त्व। **पूजिअहिं**=पूजे जाते हैं, पूजते हैं। **तेऊ**=वे भी, उन्हें भी। **उघरहिं**=खुल जाते हैं; कलई खुल जाती है। **निबाहू**=निर्वाह, गुजर। **कियेहु**=करनेपर भी। **सनमानू**=सम्मान, आदर, इज्जत।

अर्थ—जो ठग ही हैं (पर सुन्दर वेष धारण किये हैं) उनका भी सुन्दर वेष देखकर, वेषके प्रतापसे जगत् उनको भी पूजता है* ॥ ५ ॥ (परन्तु) अन्तमें वे खुल जाते हैं, अर्थात् उनका कपट खुल जाता है, फिर निर्वाह नहीं होता (अर्थात् फिर उनकी नहीं चलती) जैसे कालनेमि, रावण और राहुका † ॥ ६ ॥ बुरा वेष बना लेनेपर भी साधुका सम्मान होता है, जैसे संसारमें जाम्बवान् और हनुमान्‌जीका हुआ॥ ७॥

टिप्पणी—(१) 'कर्मका व्यतिक्रम कहकर अब वेषके व्यतिक्रमका हाल कहते हैं कि साधु-संगसे कुवेषका सम्मान है और असाधुके संगसे सुवेषका भी अनादर है। *'जग बंचक'* बड़ा पापी है। यथा, *'बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं'* (अ० १६८) ऐसा पापी भी सुवेषके प्रतापसे पूजा जाता है। परन्तु खलता उघरनेपर अन्तमें निर्वाह नहीं होता, क्योंकि इनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वेष ही है। यथा, *'बचन बेष तें जो बनइ सो बिगरइ परिनाम। तुलसी मन तें जो बनइ बनी बनाई राम॥'* (दोहावली १५४) इसीका उदाहरण आगे देते हैं। (२) 'असन्तके सुवेषको प्रथम और सन्तके कुवेषको पीछे कहनेका भाव यह कि यह अन्ततक निबह जाता है, वह नहीं निभता।' (३) *'कालनेमि जिमि रावन राहू'* इति। भाव यह कि ये तीनों मारे गये, ऐसे ही बंचक भी मारे जाते हैं। वेष-प्रतापसे पूजे गये, खलतासे मारे गये। तीनोंने ठगाई की थी। यहाँ 'उदाहरण-अलंकार' है। (४) *'लखि सुबेष'* से सूचित किया कि जो खल सत्संग पाकर भलाई करते हैं फिर बिगड़कर मलिन कर्म करते हैं, वे ही सुबेष बनाकर जगत्‌को ठगते हैं। (५) साधुके कुवेष करनेका भाव यह है कि कुवेषसे कुशल है। यथा—*'कह नृप जे बिज्ञान निधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना॥ सदा रहहिं अपनपो दुरायें। सब बिधि कुसल कुबेष बनायें॥'* (१६१) कुवेष बनाये हुएको कोई पूजता नहीं, पूजनेसे हानि है। यथा—*'लोकमान्यता अनलसम कर तप कानन दाहु'* (१६१) सन्त पूजनेके डरसे कुवेष धारण करते हैं, खल पूजानेके लिये सुवेष बनाते हैं।

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ बेद बिदित सब काहू॥ ८ ॥
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहि मिलइ नीच जल संगा॥ ९ ॥

---

* 'जग बंचक जेऊ' के दो प्रकारसे और अर्थ हो सकते हैं।—'जगत्‌में जो भी ठग हैं', 'जो जगत्‌को ठगनेवाले हैं' अर्थात् जगत्‌को ठगनेके लिये ऊपरसे साधुवेष धारण कर लिया है पर उसमें प्रतीति नहीं है, पुनः, 'जग' 'पूजिअहिं' के साथ भी जाता है। 'बंचक' यथा— 'बंचक भगत कहाइ रामके। किंकर कंचन कोह कामके॥' (१। १२) 'बिरचि हरिभगतिको बेष बर टाटिका, कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं' (विनय २०८)

करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ वेषका प्रताप सूचित करते हैं। अतः उपासनाकी रीतिसे इनका अर्थ यों होगा कि 'उघरहिं अंत न होइ निबाहू' अर्थात् सुवेषके प्रतापसे उनका अन्त उघरता नहीं है, उनका निर्वाह हो जाता है, जैसे कालनेमि, रावण और राहुका हुआ। कालनेमिका अन्तमें निर्वाह हुआ। यथा—'राम राम कहि छाँड़ेसि प्राना'। रावणका निर्वाह। यथा—'गरजेउ मरत घोररव भारी। कहाँ राम।' और राहुका, यथा—'संग सरल कुटिलहि भएँ हरि हर करहिं निबाहु। ग्रह गनती गनि चतुर बिधि कियो उदर बिनु राहु॥' (दोहावली ३३६) राहुकी गिनती नवग्रहोंमें देवताओंके साथ होने लगी। थोड़ी ही देरके लिये देवताओंके बीचमें देवता बनकर बैठ जानेका यह फल हुआ कि वह नवग्रहोंमें पूजा जाता है। थोड़ी देर सुन्दर वेष धारण करनेका यह फल हुआ तो सदा सुवेष धारण किये रहनेसे क्यों न निर्वाह होगा ?

† 'कालनेमि'—(१। २७। ८) देखिये। 'रावण'—यह यतीके वेषसे पंचवटीमें गया। सीताजीने उसके वेषके प्रतापसे 'गुसाईं, सम्बोधन किया, उसके दुष्ट वचन सुनकर भी उसको दुष्ट न कहकर 'दुष्टकी नाईं' कहा। (लं० ३५, आ० २८) 'राहु'—(४। ३) देखिये।

साधु असाधु सदन सुकसारी। सुमिरहिं रामु देहिं गनिगारी॥ १०॥
धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई॥ ११॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवन दाता॥ १२॥

शब्दार्थ—लाहू=लाभ। बिदित=प्रकट, जाहिर, मालूम। काहू=किसीको। गगन=आकाश। रज=धूरि, धूल। पवन=वायु, हवा। प्रसंगा=सम्बन्ध, लगाव, साथ। कीचहि=कीचड़में। सदन=घर। सुक=(शुक) तोता। सारी=सारिका, मैना। गनि=गिन-गिनकर अर्थात् बुरी-से-बुरी और बहुत अधिक। गारी=गाली। धूम=धुआँ। कारिख=(कालिख)=कालिमा, करिखा। मसि=स्याही। अनिल=वायु। संघाता=मेल; सङ्गठनसे; साथसे। यथा, *'ब्रह्मजीव इव सहज सँघाती।'* जलद=मेघ। जीवन=प्राण, जल।

अर्थ—कुसंगसे हानि और सुसंगसे लाभ होता है, यह बात लोकमें भी और वेदोंमें सभीको विदित है॥ ८॥ पवनके संगसे धूल आकाशपर चढ़ती है और नीचे (जानेवाले) जलके संगसे कीचड़में मिल जाती है॥ ९॥ साधुके घरके तोते-मैने राम-राम सुमिरते हैं और असाधुके घरके गिन-गिनकर गालियाँ देते हैं॥ १०॥ धुआँ कुसंगसे कालिख कहलाता है वही (सुसंग पाकर) सुन्दर स्याही होता है तब उससे पुराण लिखे जाते हैं ॥ ११॥ वही (धुआँ) जल, अग्नि और पवनके संगसे मेघ होकर जगत्‌का जीवनदाता होता है ॥ १२॥

नोट—१ *'हानि कुसंग सुसंगति लाहू'* इति। यथा—*'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥'* (२। २४) *'केहि न सुसंग बडप्पनु पावा।'* (१। १०) *'बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।'* (४। १५) **'हीयते हि मतिस्तात हीनैस्सहसमागमात्। समैस्तु समतां याति विशिष्टैस्तु विशिष्टताम्॥'** (पं० रामकुमारके संस्कृत खर्रेसे)

टिप्पणी—१ *'गगन चढ़इ रज……'* इति। (क) अब कुसङ्ग-सुसङ्गसे हानि-लाभ दिखाते हैं। (ख) *'गगन चढ़इ……'*। यथा, *'रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई॥' 'मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥'* (७। १०६) वही रज जो पवनके संगसे ऊर्ध्वगामी हो आकाशको जाती है, राजाओंके मस्तकपर जा विराजती है, नीच (नीचेको जानेवाले) जलके सङ्गसे कीचमें मिलती है। (आकाशगामीके संगका फल वह मिला और निम्नगामीके संगका यह फल मिला। कीचड़में मिलनेसे अब सबके पदप्रहार सहती है।) अब यदि पवन उसे उड़ाना चाहे तो नहीं उड़ा सकता। तात्पर्य यह कि जो कुसंगसे अत्यन्त मूर्ख हो गये हैं, वे सत्संगके अधिकारी नहीं रह जाते। यथा—*'फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरसइ जलद। मूरुख हृदय न चेत जो गुर मिलहिं बिरंचि सम॥'* (६। १६) जब वह उपदेश ही न मानेगा तब ऊर्ध्वगति ही कैसे होगी? सत्संग ऐसे नीचको इतने ऊँचेपर पहुँचा देता है और कुसंग इतने ऊँचेसे गिराकर पतित करता है। (ग) [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि रजमें 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच विकार हैं। जलमें 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस' और पवनमें 'शब्द, स्पर्श, दो ही विकार हैं। सन्त पवनके समान हैं, जो रूप, रस और गन्ध—विकारोंको जीते हुए हैं, केवल जगत्‌का स्पर्शमात्र किये हुए हैं और शब्द सुनते हैं। विषयी रजरूप हैं जो शब्दादि पाँचों विषय-विकारोंमें लिप्त हैं। ये सन्तसंग पाकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं और जलरूपी विमुख जीव, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रसमें आसक्त हैं, उनका संग पाकर चौरासी लक्ष योनिरूप कीचड़में फँस जाते हैं। यथा—*'संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।'* (७। ३३)]

नोट—२ कुछ महानुभावोंने शङ्का की है कि 'जल तो जगत्‌का आधार है, 'नीच' कैसे कहा? इसका एक उत्तर तो यही है कि दृष्टान्त एकदेशी है, जलकी नीचेकी गतिहीको यहाँ लिया है। गङ्गा आदिको इसी कारण निम्नगा कहा है, अर्थात् नीचेको जानेवाली है, वही अर्थ 'नीच' का यहाँ भी गृहीत है। इसी प्रकार *'बिस्व सुखद खल कमल तुषारू।'* (बा० १६। ५)) में 'कमल' को खलकी उपमा दी गयी है।

कोई-कोई इस शङ्काके निवारणार्थ 'नीच' को 'कीच' वा 'रज' का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं। वा, '*मिलइ नीच*' (नीचे कीचड़में जा मिलती है) ऐसा अन्वय करते हैं।

सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि 'नीच' विशेषण देनेका भाव यह है कि जो जिसके साथसे नीच होता है, वह उसको नीच ही समझता है।……यद्यपि जल मनुष्यमात्रका जीवन है तथापि धूलिके लिये नीच ही है।'

टिप्पणी—२ '*साधु असाधु सदन सुक सारी।……*' इति। (क) साधुके घरके तोता-मैना साधुके संगसे श्रीरामनाम रटते हैं। इससे उनके लोक-परलोक दोनों बनते हैं। लोकमें लोग उनकी प्रशंसा करते हैं और श्रीरामनामस्मरणसे वे परमधाम पाते हैं। इसी तरह असाधुके घरके तोते-मैने असाधुका सङ्ग होनेसे गाली देते हैं, अतः लोकमें अपयश पाते हैं। इस लोकमें लोग उनकी निंदा करते हैं यह तो उनका लोक बिगड़ा और गाली देनेसे उनका परलोक भी बिगड़ा। (ख) साधुसङ्गसे शुकसारिकाका श्रीरामनाम-स्मरण करना 'प्रथम उल्लास-अलङ्कार' है और असाधुके सङ्ग-दोषसे गाली देना 'द्वितीय उल्लास' है। दोहा (३। ९) में देखिये। यथासंख्य-अलङ्कार भी है।

नोट—३ अर्धाली १० '*साधु असाधु……*' के भावके श्लोक ये हैं। '**कान्तारभूमिरुहमौलिनिवासशीलाः प्रायः पलायनपरा जनवीक्षणेन। कूजन्ति तेऽपि हि शुकाः खलु रामनाम संगस्वभावविपरीतविधौ निदानम्॥**', '**गवासनानां स शृणोति वाक्यमहं हि राजन् वचनं मुनीनाम्। न चास्य दोषो न च मे गुणो वा संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति॥**' अर्थात् जङ्गलमें वृक्षोंके शिखरोंपर बैठनेवाले शुक पक्षी भी जो मनुष्योंको देखकर भागनेवाले होते हैं वे भी मनुष्योंकी संगति पाकर रामनाम रटने लगते हैं। संगतिसे स्वभावका परिवर्तन होता ही है। (सु० र० भा० प्रकरण २ सत्संगति-प्रशंसा श्लोक ३१) वह तो क़साइयोंका वचन सुनता रहा है और मैं मुनियोंके वचन सुनता हूँ। इसीसे हे राजन्! सारिका गालिया बकती हैं और मैं रामयश और रामनाम गाता हूँ। इसमें न कुछ उसका दोष है, न मेरा गुण। दोष और गुण संसर्गहीसे उत्पन्न होते हैं—(सु० र० भा० प्र० २ सत्संगप्रशंसा श्लोक २३)

नोट—४ '*देहिं गनि गारी*' इति। 'गनि' का अर्थ 'गिनना' करनेमें लोग शङ्का करते हैं कि 'इनको गिननेका विवेक कहाँ?' समाधान यह है कि यह मुहावरा है जिसका अर्थ है बराबर और बुरी-से-बुरी बेइंतहा (बहुत अधिक) गालियाँ देते हैं। कुछ लोग इस शङ्काके कारण इस प्रकार अर्थ करते हैं 'गाली देते हैं, 'गनि' अर्थात् विचार कर देख लो।' पर यह अर्थ खींच-खाँच ही है।

नोट—५ '*धूम कुसंगति कारिख होई।……*' इति। (क) यहाँ कुसंग और सुसंग क्या है? लकड़ी, कंडा, तृण, भड़भूँजा आदिके संगसे धुआँ जो घरोंमें जम जाता है वह कालिख कहलाता है, घरको काला करता है। लकड़ी, कंडा आदि कुसंग हैं जिससे वह धुआँ 'कालिख' के नामसे कहा जाता है। तेल, बत्ती, विद्यार्थी आदिका संग सुसंग है, क्योंकि इनके संगसे जो कालिमा बनती है, वह काजल कहलाता है, जिससे स्याही बनती है, दवातपूजामें उसका पूजन होता है और उससे पुराण लिखे जाते हैं, पुराणोंके साथ उसकी भी पूजा हो जाती है।

(ख) '*लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई*' इति। यहाँ पुराणोंका ही लिखना क्यों कहा? वेदोंका नाम क्यों न दिया? उत्तर यह है कि पुराणोंके लिखनेका भाव यह है कि वह पूजनीय हो गया। पुराण लिखे जाते हैं, गणेशजीने सर्वप्रथम इन्हें लिखा। यह सब जानते हैं। वेदोंको इससे न कहा कि वे श्रुति कहलाते हैं। इनका लिखना सम्मानार्थ वर्जित है। इनको गुरुपरम्परासे सुनकर कण्ठ किया जाता है। भीष्मपितामहजीने महाभारत-आनुशासनिक पर्वमें कहा है कि '**वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः।**' (अ० २३ श्लोक ७२)

नोट—६ '*सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद*' इति। (क) धूमसे मेघोंका बनना हमारे पूर्वज बराबर मानते आये हैं। इसके प्रमाण भी हैं। यथा—'**अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥**' (गीता ३। १४) अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे

होती है और वह (वर्षा) यज्ञकर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। पुनश्च यथा, '**धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः।**' (मेघदूत श्लोक ५) अर्थात् धुआँ, तेज, जल और पवनका मेल ही मेघ है। इसी कारण मेघका 'धूमयोनि' और जलका 'जीवन' नाम पड़ा है। उत्तरकाण्डमें भी ग्रन्थकारने कहा है, '***धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहिं बुझाव घन पदवी पाई॥***' (७। १०६) इसपर यह शङ्का होती है कि 'धुएँसे तो विज्ञानके मतानुसार मेघ नहीं बनता। तब क्या यह कथन हमारे पूर्वजों, प्राचीनोंकी भूल नहीं है?' इसका उत्तर है—'नहीं'। तापबलसे जल वाष्प (भाप) होकर अन्तरिक्षमें इकट्ठा होता है सही, पर कितना ही ठण्डा हो जाय, जल और उपल तबतक नहीं बन सकता, जबतक धूमकण या रजकणका संयोग न हो। ज्यों ही धूमकण या रजकण वाष्पको जमा देते हैं त्यों ही जल बन जाता है। [सं+घात=संघात=मेल वा क्रिया वा चोट वा संयोग] अतः अनल+अनिल+जल+धूमकण, इस संघातसे जलद (जल+द) बनता है। (गौड़जी)

लिङ्गपुराणमें भी लिखा है कि '**अतो धूमाग्निवातानां संयोगस्त्वभ्रमुच्यते।**' (३९) धूम, अग्नि और वायुके संयोगसे मेघ बनता है, जो जलको धारण करता है। सूर्य जो जलको किरणोंद्वारा खींचता है, वह सूर्यसे फिर चन्द्रमामें जाता है और वहाँसे मेघोंमें आता है। यथा—'**आपः पीतास्तु सूर्येण क्रमन्ते शशिनः क्रमात्।**', (३१) '**निशाकराग्निस्स्रवन्ते जीमूतान् प्रत्यपः क्रमात्। वृन्दं जलमुचां चैव श्वसनेनाभिताडितम्॥**' (लिं० पु० पूर्वार्ध अ० ५४। ३१-३२) धुआँ जैसा होता है वैसा ही उससे बने हुए मेघोंका फल होता है। दावाग्निका धुआँ वनके लिये हितकारी होता है। मृतधूमवाले मेघ अमङ्गलकारी होते हैं और अभिचारिक अर्थात् हिंसात्मक यज्ञका धूम प्राणियोंका नाशक होता है। यथा— '**यज्ञधूमोद्भवं चापि द्विजानां हितकृत् सदा। दावाग्निधूमसंभूतमभ्रं वनहितं स्मृतम्। मृतधूमोद्भवं त्वभ्रमशुभाय भविष्यति। अभिचाराग्निधूमोत्थं भूतनाशाय वै द्विजाः॥**' (लिं० पु० पू० अ० ५४। ४०-४१) इससे भी धूमका सुसंग और कुसंगसे शुभ और अशुभ होना सिद्ध है। लोगोंने पुराणोंकी निन्दा करके उसकी ओरसे लोगोंकी श्रद्धा हटा दी, जिसके कारण हम अनेक विज्ञानकी बातोंसे आज वञ्चित हो गये जो उनमें दी हुई हैं। विदेशी उन्हींको चुराकर जब कोई बात कहते हैं तब हम विदेशियोंकी ईजाद मानकर उनकी प्रशंसा करते हैं।

(ख) '*जग जीवन दाता*' इति। जगको जीवनदाता हुआ, इस कथनका भाव यह है कि वह संसारका जीवनदाता-स्वरूप है। स्याही होकर पुराणद्वारा पण्डितोंका जीवनदाता हुआ और मेघ होकर जगत्‌को जीवनदाता हुआ (पं० रामकुमारजी)। मेघ पृथ्वीपर जलकी वृष्टि करते हैं, जिससे अन्न पैदा होता है और अन्नमें प्राण है, अर्थात् अन्नसे प्राणोंकी रक्षाके योग्य यह शरीर होता है और जगन्मात्रको इससे सुख होता है। यथा—'*मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू।*' (२। २३५)

नोट— ७ यहाँ तीन प्रकारके दृष्टान्त दिये गये। 'रज, पवन, जल', 'सुक, सारिका' और धुआँ'। और इनके द्वारा सुसंग-कुसंगसे लाभ-हानि दिखायी गयी। इस प्रसंगमें इन तीन दृष्टान्तोंके देनेका क्या भाव है? उत्तर—'रज, पवन और जल' जड हैं, 'सुक,सारी' चेतन हैं जिनको बुरे-भलेका ज्ञान नहीं और 'धूम' जडरूप है और 'चेतनरूप' भी। इन दृष्टान्तोंको देकर दिखाते हैं कि जडपर भी जडका, चेतनपर चेतनका और जडचेतन-संज्ञक, चेतनसंज्ञक और जिनकी जडचेतन दोनों संज्ञा हैं उन सबोंपर संगतिका प्रभाव पड़ता है।

दो०—ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलच्छन[१] लोग॥

---

१. कोदोरामजीकी प्रतिमें 'सुलक्खन' पाठ है। 'लखहिं' के योगसे यह पाठ अधिक अच्छा जान पड़ता है। श्रीअयोध्याजीकी भी एक प्रतिमें यही पाठ है। 'सुलक्खन' पदमें 'लखहिं' का अभिप्राय भरा है। सुलक्खन विशेषण है। अतएव यहाँ 'परिकर-अलङ्कार' है। सं० १६६१ की प्रतिमें प्रथम 'सुलष्पन' सा जान पड़ता है परन्तु 'ष्प' पर स्याही अधिक है इससे निश्चय नहीं कि पूर्वमें क्या पाठ था। अनुमान यही होता है कि 'ष्प' था। स्याही लगाकर हाशियेपर 'छ' बनाया है। बदखत है। रा० प० में 'सुलश्यन' पाठ है जो सम्भवतः १७०४ की पोथीका पाठ है। पंजाबीजी भी 'सुलश्यन' पाठ देते हैं।

सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि सोषक[१] पोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह॥ ७॥

शब्दार्थ—**ग्रह**=जिन बिम्बोंकी आकाशमें गति है। ग्रह नव माने गये हैं। रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। **भेषज**=औषधि, दवाई। **पट**=वस्त्र, कपड़ा। **कुजोग**=(कुयोग) बुरेका संग। **सुजोग**=(सुयोग) अच्छेका संग। **कुबस्तु**=बुरे पदार्थ, बुरी चीज। **सुबस्तु**=भला पदार्थ, अच्छी चीज। **सुलच्छन**=सुलक्षण=भली प्रकार लखनेवाले; अच्छे लखनेवाले अर्थात् सुविज्ञ। **पाख**=पक्ष, पखवारा। १५-१५ दिनका एक-एक पक्ष होता है। **दुहुँ**=दोनोंमें। **प्रकास**=उजाला। **पोषक**=पालने, पुष्ट करनेवाला, बढ़ानेवाला। **सोषक** (शोषक)=सुखाने वा घटानेवाला।

अर्थ—ग्रह, औषधि, जल, वायु और वस्त्र (ये सब) बुरा और भला संग पाकर संसारमें बुरे और भले पदार्थ हो (कहे) जाते हैं। सुलक्षण लोग ही इसे लख (देख वा जान) सकते हैं। (शुक्ल और कृष्ण) दोनों पक्षोंमें उजाला और अँधेरा समान (बराबर) ही रहता है (परन्तु) ब्रह्माजीने उनके नाममें भेद कर दिया (अर्थात् एकका नाम शुक्ल और दूसरेका कृष्ण रख दिया)। एक चन्द्रमाकी वृद्धि करनेवाला और दूसरा उसको घटानेवाला है, ऐसा समझकर जगत्में एकको यश और दूसरेको अपयश दिया॥ ७॥

नोट—१ 'ग्रह' नौ हैं। यथा— '**सूर्यः शौर्यमथेन्दुरुच्चपदवीं सन्मङ्गलं मङ्गलः सद्बुद्धिं च बुधो गुरुश्च गुरुतां शुक्रः सुखं शं शनिः। राहुर्बाहुबलं करोतु विपुलं केतुः कुलस्योन्नतिं नित्यं प्रीतिकरा भवन्तु भवतां सर्वे प्रसन्ना ग्रहाः॥**' (मानसागरी १। ५) ग्रहोंमेंसे कितने ही स्वाभाविक ही शुभ और कितने ही अशुभ हैं तो भी बुरे स्थानमें आ पड़ने, क्षीण होने, अधिकांश बीतने, क्रूरग्रहके साथ पड़ने या उनकी दृष्टि पड़नेसे शुभग्रह भी बुरे हो जाते हैं और इसी प्रकार अशुभग्रह शुभग्रहोंके संयोग, शुभस्थान आदि कारणोंसे शुभ हो जाते हैं। द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'बृहस्पति जन्म और अष्टम प्राणनाशक और वही द्वितीय और नवममें आरोग्य और अनेक सुखदाता भी बुरे भले स्थानके संगसे होता है।' पुनः यथा—'***ससि सर नव दुइ छ दस गुन मुनि फल बसु हर भानु। मेषादिक क्रम तें गनहि घात चंद्र जियँ जानु॥***' (दोहावली ४५९) इस दोहेका भावार्थ यह है कि मेष आदि राशियोंसे क्रमशः शशि (एक), सर (पाँच), नौ, दो, छ, दस, गुण (तीन), मुनि (सात), फल (चार), वसु (आठ), हर (ग्यारह) और भानु (बारह) वें राशियोंमें स्थित चन्द्रमा घातक होता है। अर्थात् मेषराशिवालेको 'प्रथम' अर्थात् मेषका, वृषभराशिवालेको उससे पञ्चम अर्थात् कन्याराशिका, मिथुनराशिवालेको उससे नवें अर्थात् कुम्भका चन्द्र घातक होता है। इसी प्रकार और भी जान लें। मुहूर्तचिन्तामणिमें यात्राप्रकरणमें भी ऐसा ही लिखा है। यथा— '**भूपञ्चाङ्क द्व्यङ्गदिग्वह्निसप्तवेदाष्टेशार्काश्च घाताख्ययेचन्द्रो मेषादीनां राजसेवाविवादे यात्रायुद्धादयो च नान्यत्र वर्ज्यः॥**' (२७) चन्द्रमा पुण्य ग्रह है, परन्तु उपर्युक्त कुयोगोंसे वह कुवस्तु हो जाता है। पूर्वसंस्करणोंमें हमने उदाहरणमें यह दोहा दिया था। परन्तु इस समय विचारनेपर कुछ त्रुटि दीख पड़ी कि इसमें एक ग्रहके केवल कुयोगका किञ्चित् अंश मिलता

---

१. 'सोषक पोषक' पाठ १६६१ में है। पोषक सोषक—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, को० रा०। 'सोषक पोषक' पाठ पं० सुधाकर द्विवेदीने भी दिया है और मा० प्र० ने भी। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि इस दोहेमें पहले प्रकाश और शशिपोषक, फिर तम और सोषक कहकर पहले शुक्ल, फिर कृष्ण पक्ष सूचित किये। परन्तु दूसरी ठौर 'घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई।' (१। २३८। १) में पहले कृष्ण फिर शुक्ल पक्ष लिखा है। इस व्यतिक्रमका भाव यह है कि नर्मदाजीके उत्तरार्धमें प्रथम कृष्ण पक्ष माना जाता है और दक्षिणार्द्धमें प्रथम शुक्लपक्ष माना जाता है। श्रीमद्गोस्वामीजीने एक-एक मत दोनों जगह देकर दोनों मतोंकी रक्षा कर दी है। (पं० रामकुमारजी भागवतदासजीकी पोथीसे पाठ करते थे।) उसमें 'पोषक सोषक' पाठ यहाँपर है। इसीसे उन्होंने दोनों स्थानोंके पाठका इस तरह समाधान किया है। मानस-पीयूषके प्रथम और दूसरे संस्करणमें हमने 'पोषक सोषक' पाठ रखा था और वही अधिक अच्छा जान पड़ता है; पर १६६१ की प्रतिमें 'सोषक पोषक' है और हरताल या काट-छाँट भी नहीं है। इसलिये इस संस्करणमें यही पाठ रखा गया।

है; दूसरे मेषादि राशियाँ कोई कुवस्तु नहीं हैं कि जिनके सङ्गसे चन्द्रमा 'कुवस्तु' हो जाता है। तब वह बुरा क्यों माना गया? इसका उत्तर यही हो सकता है कि दोनों अच्छी वस्तुओंका योग (मिश्रण) जैसे घृत और मधु समान होनेपर मात्रामें मिलनेसे विष हो जाता है। वस्तुतः यहाँ ग्रह आदिका कुयोग (कुवस्तुके योग) से कुवस्तु और 'सुयोग' (अच्छी वस्तुके योग) से सुवस्तु होना कहा गया है। इसलिये दूसरा दृष्टान्त खोज करके यह दिया जाता है। बृहज्ज्योतिषसार 'जातक' प्रकरणमें लिखा है, **'द्वित्रिसौम्याः खगा नीचा व्ययभावेऽथवा पुनः। भवन्ति धनिनः षष्ठे निधनेऽन्ते च भिक्षुकाः॥'** (८१) अर्थात् जिसके शुभ ग्रह दूसरे, तीसरे स्थानमें हों और पापग्रह बारहवेंमें हों तो वह धनवान् होता है और यदि सम्पूर्ण ग्रह छठवें, आठवें और बारहवें स्थानमें पड़ें तो बालक भिक्षुक होता है। कुण्डलीका दूसरा स्थान धनका और तीसरा भाईका है। अतः ये शुभ हैं। बारहवाँ स्थान इन दोनोंके संगसे शुभ ही समझा जा सकता है, क्योंकि धन और परिवारवालेके लिये खर्च भी साथ-साथ होना बुरा नहीं है। ग्रह इन शुभ स्थानोंमें आनेसे शुभ होते हैं। कुण्डलीका छठवाँ, आठवाँ और बारहवाँ स्थान क्रमशः रिपु, मृत्यु और व्ययका है। रिपु और मृत्यु दोनों बुरे हैं ही और इनके सङ्गसे बारहवाँ स्थान भी बुरा ही है। समस्त ग्रह इन तीनों स्थानोंके सङ्गसे बुरे हो जाते हैं।

नोट—२ भेषज—अनुपान अच्छा, समय ठीक हुआ और रोगकी ठीक पहिचान करके दवा दी गयी तो गुण करती है, नहीं तो उलटी हानिकारक हो जाती है। इसके भेदको अच्छे वैद्य ही जानते हैं। साँपके काटनेपर विष खिलानेसे प्राणोंकी रक्षा, अन्यथा विष प्राणघातक है। पूर्व संस्करणोंमें हमने यह भाव लिखा था और कुछ टीकाकारोंने उसे अपनी टीकाओंमें उतारा भी है। परन्तु 'भेषज' के 'कुयोग-सुयोग' की ठीक सङ्गति इसमें नहीं पाकर वैद्यक ग्रन्थसे खोजकर दूसरा उदाहरण दिया जाता है।

'भेषज' इति। लोहेकी भस्म शहदके साथ पथरी और मूत्रकृच्छ रोगके लिये परम गुणदायक है। परन्तु यदि मद्य और खटाईका सेवन किया गया तो वही हानिकारक हो जाती है। यथा—**'अयोरजः श्लक्ष्णपिष्टं मधुना सह योजितम्। अश्मरीं विनिहंत्याशु मूत्रकृच्छ्रञ्च दारुणम्॥' 'मद्यमम्लरसञ्चैव त्यजेल्लोहस्य सेवकः॥'** (रसेन्द्रसारसंग्रह ७, ५८) शहद अच्छी चीज है। उसके सङ्गसे लोहभस्म सुवस्तु और मद्य एवं खटाई बुरी हैं, इनके सङ्गसे वही कुवस्तु हो गया।

नोट—३ 'जल' कर्मनाशामें पड़नेसे बुरा, वही गङ्गाजीमें पड़नेसे पावन। गुलाब इत्यादिके सङ्गसे सुगन्धित और नाबदान इत्यादिके सङ्गसे दुर्गन्धित। इसी प्रकार वही गङ्गाजल वारुणी (मदिरामें) पड़नेसे अपावन हो जाता है। स्वातिजल सीपके मुखमें पड़नेसे मोती, केलेमें कपूर, बाँसमें बंसलोचन, हरदीमें कचूर, गौमें गोरोचन और सर्पके मुखमें पड़नेसे विष होता है।

नोट—४ 'पवन' फुलवारी आदिसे होकर आवे तो सुगन्ध और गंदी नाली वा किसी सड़ी वस्तुके अवयवोंके सङ्गसे दुर्गन्ध।

नोट—५ 'वस्त्र' सन्त विरक्त महात्माओंकी गुदड़ीका और देवी-देवतापर चढ़ा हुआ शुभ, मुर्देके कफ़नका अशुभ। महात्माओंके मृतक शरीरका वस्त्र भी प्रसादरूप माना जाता है। चुनरी माङ्गलिक है, पर मृतक स्त्रीके शरीरपर होनेसे वह भी अपवित्र मानी जाती है।

नोट—६ *'लखहिं सुलच्छन लोग'* का भाव यह है कि ज्योतिषी, वैद्य और सुजान (जानकार) ही इनके भेदको जान सकते हैं। सामान्यजन नहीं जान सकते हैं। (पं० रामकुमार) **सुलच्छन**=विद्या, विचार आदि सुन्दर लक्षणयुक्त लोग।

नोट—७ *'सम प्रकास तम पाख दुहुँ'* इति। (क) द्विवेदीजी—दोनों पक्षोंमें पन्द्रह-पन्द्रह तिथि और चन्द्रमाकी कलाएँ बराबर हैं परन्तु शुक्लपक्ष क्रम-क्रमसे कलाको बढ़ाता और कृष्णपक्ष घटाता है। इस-लिये ब्रह्माने शुक्लको यश और कृष्णको अपयश दिया, अर्थात् मङ्गलकार्योंमें शुक्ल शुभ और कृष्ण अशुभ

माना गया। (ख) सू० प्र० मिश्र—दोनों पक्षोंमें भेद नहीं है, परन्तु ब्रह्माने नामभेद कर दिया है। शुक्लपक्ष चन्द्रको बढ़ाता और कृष्णपक्ष उसे घटाता है, ऐसा समझकर उनके कर्मके अनुसार यश और अपयश अर्थात् कृष्णको काला और शुक्लको श्वेत कर दिया है। घटाने-बढ़ानेका भाव यह है कि धर्मादिका बढ़ाना यश और उसका घटाना अपयश है। (ग) एकको शुक्ल या उजियारी और दूसरेको कृष्ण या अँधेरी कहनेसे ही एक भला और दूसरा बुरा जान पड़ता है। जगत्‌में लोग कृष्णपक्षको शुभ कार्यमें नहीं लाते, शुक्लको लाते हैं।

मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृतिकी टीका) में वारप्रवृत्तिके सम्बन्धमें कश्यपजीका यह वचन प्रमाणमें दिया गया है—'**उदिते तु यदा सूर्ये नारीणां दृश्यते रजः। जननं वा विपत्तिर्वा यस्या हस्तस्य शर्वरी॥ अर्धरात्रावधिः कालः सूतकादौ विधीयते। रात्रिं कुर्यात्स्त्रिभागान्तु द्वौ भागौ पूर्व एव तु। उत्तरांशः प्रभातेन युज्यते ऋतु सूतके॥ रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके। पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते रविः॥**' याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रायश्चित्ताध्याय अशौच प्रकरणके बीसवें श्लोकपर ये वचन टीकामें उद्धृत किये गये हैं। अर्थ यह है कि सूर्यके उदय होनेपर स्त्रियोंका रजोदर्शन या किसीका जन्म या मृत्यु हो तो उसके सूतकमें अर्द्धरात्रि पर्यन्त वही दिन लिया जायगा जिसमें सूर्य उदय हुआ हो। अथवा, रात्रिके तीन भाग करके पहले दो भाग पूर्व दिनमें और तीसरा भाग अगले दिनमें समझना चाहिये। अथवा सूर्योदयके पहले यदि उपर्युक्त प्रसङ्ग आ जावें तो पूर्व दिन ही समझा जाय। इसपर मिताक्षराकारका कथन है कि ये सब पक्ष देशाचारानुसार मानने चाहिये। निर्णयसिन्धु और धर्मसिन्धुने मिताक्षराके प्रमाणपर यही बात लिखी है। उपर्युक्त तीन पक्षोंमेंसे सूर्यसिद्धान्त प्रथम पक्षको ही मानता है। यथा—'**वारप्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपार्धेऽभ्यधिके भवेत्। तद्देशांतरनाडीभिः पश्चादूने विनिर्दिशेत्॥**' (सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकार ६६) यह मत प्राचीनतम ज्योतिष सिद्धान्तका है। इस श्लोकमें रेखापुरके पूर्व और पश्चिम देशोंमें वारप्रवृत्ति किस प्रकार होती है, यह बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि रेखापुरमें ठीक बारह बजे रात्रिमें वारप्रवृत्ति होती है और वही वारप्रवृत्ति सब देशमें मानी जाती है। सिद्धान्तकौमुदीमें '**कालोपसर्जने च तुल्यम्।**' (१। २। ५७) इस सूत्रपर लिखा है कि बीती हुई रातके पिछले अर्धके सहित और आगामी रातके पूर्वार्धसे युक्त जो दिन होता है, उसे '**अद्यतन**' (आजका दिन) कहते हैं। यथा—'**अतीताया रात्रेः पश्चार्द्धेनागामिन्याः पूर्वार्द्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः।**' इससे भी आधी रातसे दिनका प्रारम्भ माना जाता है।

वैष्णवोंमें कुछ साम्प्रदायिक दशमी ४५ दंडसे बढ़ जानेपर एकादशीको विद्धा मानते हैं। अर्धरात्रिमें ही वारप्रवृत्ति मानकर ही ऐसा होता है। अर्धरात्रिसे दिनका प्रारम्भ माननेसे दोनों पक्षोंमें उजाला और अँधेरा स्पष्ट ही बराबर देख पड़ता है। कृष्णपक्षमें अमावस्याकी पूरी रात अँधेरी होती है। आधी इसमेंसे कृष्णपक्षमें आ गयी और आधी शुक्लपक्षमें गयी। इसी तरह शुक्लपक्षमें पूर्णिमाकी रातभर प्रकाश रहता है, उसमेंका पूर्वार्ध शुक्लमें गिना जायगा और उत्तरार्ध कृष्णमें। शेष सब तिथियोंका हिसाब सीधा है।

नोट—८ *'पाइ कुजोग सुजोग'* इति। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा है। यथा— '**विद्यातपोवित्तवपुर्वयः कुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः। स्मृतौ हतायां भृतमान दुर्दृशः स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥**' (भा० ४। ३। १७) अर्थात् विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल ये छः सत्पुरुषोंके गुण हैं किन्तु ये ही नीच पुरुषोंमें अवगुण हो जाते हैं।

टिप्पणी—१ पूर्व कहा था कि सन्त-असन्त यश-अपयश पाते हैं। यथा—*'भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥'* (१। ५। ७) फिर कुसङ्ग और सुसङ्गसे क्रमशः हानि और लाभ यहाँतक दिखाते आये। अर्थात् साधु और असाधुके सङ्गसे गुण-दोष *'गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा।'* (७) (८) से लेकर यहाँतक कहा।

साधु-असाधु-वन्दना-प्रकरण समाप्त

कार्पण्ययुक्त वन्दना-प्रकरण

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
बंदौं सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदौं किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्ब॥७॥

शब्दार्थ—जड़ चेतन—नोटमें दिया गया है। जत=जितना। **सकल**=सब। **दनुज**=दनु (कश्यपजीकी एक स्त्री) की सन्तान। पर यहाँ दैत्य, असुरमात्र अभिप्रेत हैं। **खग**=आकाशमें चलनेवाले=पक्षी। **नाग**=कद्रू (कश्यपजीकी एक स्त्री)के पुत्र। जैसे शेषनाग, वासुकी आदि। (६१। १) देखो। प्रेत, पितर (पितृ)=मरण और शवदाहके अनन्तर मृत व्यक्तिको आतिवाहिक शरीर मिलता है। उसके पुत्रादि उसके निमित्त जो दशगात्रका पिण्ड दान करते हैं उन दश पिण्डोंसे क्रमशः उसके शरीरके दस अङ्ग गठित होकर उसको एक नया शरीर प्राप्त होता है। इस देहमें उसकी 'प्रेत' संज्ञा होती है। षोडश श्राद्ध और सपिण्डनके द्वारा क्रमशः उसका यह शरीर भी छूट जाता है और वह एक नया भोग—देह प्राप्तकर अपने बाप, दादा, परदादा आदिके साथ पितृलोकका निवासी बनता है अथवा कर्मसंस्कारानुसार स्वर्ग नरक आदिमें सुख-दुःखादि भोगता है। इसी अवस्थामें उसको 'पितृ' कहते हैं। पुनः, पितृ=एक प्रकारके देवता जो सब जीवोंके आदिपूर्वज माने गये हैं। गन्धर्व किन्नरादि देवयोनि हैं। यथा—'**विद्याधराप्सरो यक्षरक्षो गन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥**' (अमरकोष १। १। ११) नाग भी देवयोनिके प्राणी हैं जो भोगावतीमें रहते हैं। **गन्धर्व**=ये ब्रह्माजीकी कान्तिसे उत्पन्न हुए। पुराणानुसार ये स्वर्गमें रहते हैं। इनका स्थान गुह्यलोक और विद्याधरलोकके मध्यमें कहा जाता है। शब्दसागरमें लिखा है कि इनके ग्यारह गण माने गये हैं। अश्राज्य, अन्धारि, वंभारि, शूर्यवर्च्चा, कृधु, हस्त, सुहस्त, स्वन्, मूर्धन्वा, विश्वावसु और कृशानु। ये गानविद्यामें प्रवीण होते हैं। **किन्नर**=इनका मुख घोड़ेके समान होता है। ये संगीतमें अत्यन्त कुशल होते हैं। ये लोग पुलस्त्यजीके वंशज माने जाते हैं। (श० सा०) गन्धर्व इनसे अधिक रूपवान् होते हैं। **रजनिचर**=निशाचर, राक्षस। **सर्ब**=सब।

अर्थ—संसारमें जड अथवा चेतन जितने भी जीव हैं सबको श्रीराममय जानकर मैं उन सबोंके चरणकमलोंकी सदा, दोनों हाथ जोड़कर वन्दना करता हूँ। देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, प्रेत, पितर, गन्धर्व, किन्नर और निशाचर मैं (आप) सबोंको प्रणाम करता हूँ। अब आप सब मुझपर कृपा करें॥७॥

नोट—१ (क) पिछले दोहे *'सम प्रकास तम'''''।'* तक साधु-असाधुकी वन्दना की। अब जो इनसे पृथक् हैं, उनकी वन्दना करते हैं। (पं० रामकुमारजी) (ख) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि *'ग्रह भेषज जल''''''जस अपजस दीन्ह॥'* से यही सिद्ध हुआ कि सब पदार्थ समान परब्रह्म राममय हैं, किसीमें भेद नहीं, केवल सङ्गके वशसे उनमें भेद हो गये हैं। इसलिये संसारमें जितने जड जीव और चेतन जीव हैं सबको राममय जानकर वन्दना करना उचित ही है। ग्रन्थकारकी यह युक्ति बहुत ही सुन्दर है। जब सब राममय ही हैं तब देव-दनुजादिकी वन्दना भी उचित ही है।

नोट—२ *'जड़ चेतन जग जीव जत'* इति। 'जड चेतन जीव' के विषयमें कुछ लोगोंने साधारण अर्थके अतिरिक्त और अर्थ लगाये हैं—(क) सिद्ध, साधक और विषयी तीन प्रकारके जीव कहे गये हैं। उनमेंसे सिद्ध मुक्त एवं नित्य हैं और साधक (मुमुक्षु) तथा विषयी बद्ध हैं, क्योंकि इनका ज्ञान संकुचित और विकसित होता रहता है। बद्धोंमें दो श्रेणी मानी गयी है। बुभुक्षु (जिनका धर्मभूत ज्ञान संकुचित रहनेके कारण जिन्हें भोग्यकी कामना बनी रहती है।) और मुमुक्षु (जिनका धर्मभूत ज्ञान विकसित हो गया है और जो मोक्षकी इच्छा करते हैं।) बुभुक्षु ही जड जीव हैं। यथा—*'हम जड़ जीव जीवगन*

घाती। '.........*सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ।*' (२। २५१) और मुमुक्षु एवं सिद्ध चेतन जीव हैं। तीनों लोकमें रहते हैं, इसीसे आगे '*देव दनुज*......' आदिसे समस्त भुवनवासियोंकी चर्चा कर देते हैं। बुभुक्षु अधिक हैं, इसीसे 'जड' को प्रथम कहा। (वे० भू० रा० कु० दा०) (ख) काष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि जड और चेतन दोनोंसे जीव विलक्षण है। अर्थात् जीव न जड है न चेतन ही। इसीसे पृथक्-पृथक् कहा। जड़=अविद्या। चेतन=परमात्मा। जीव इन दोनोंसे पृथक् है। (रा० प०) जीव=अज्ञ। (सू० मिश्र) (ग) जड़=अज्ञानी। चेतन=ज्ञानी। अथवा, जड़=माया। चेतन=ब्रह्माज्ञा। ये दोनों मिलकर जगत् हुआ। (वै०) (घ) जड़=श्वासारहित। चेतन=श्वासासहित। (मा० प्र०)

इस दोहेसे मिलते हुए श्लोक महारामायण और भागवतमें ये हैं, '**भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु रामरूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च॥**' (४९। ८) '**खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥**' (भा० ११। २। ४१) अर्थात् हे देवि! जो लोग पृथ्वी, जल, आकाश, देवता, मनुष्य, असुर, चर-अचर सभी जीवोंमें शुद्ध मनसे श्रीरामरूप ही देखते हैं, पृथ्वीमें वे ही श्रीरामजीके उत्तम उपासक हैं। (महारामायण) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी है वह सब भगवान्का शरीर ही है। अतः सबको अनन्य भावसे प्रणाम करे। (भा०)

उपर्युक्त श्लोकों और आगेकी चौपाई '*आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥*' से यह सिद्ध होता है कि वृक्ष पाषाणादि समस्त जड पदार्थ भी जीवयोनि हैं। ये जीवकी भोग-योनियाँ हैं। जीव इन सबोंमें अपने लिङ्गशरीर (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन, अहङ्कार) सहित रहता है। मोक्षके सिवा लिङ्गशरीरसे जीवका वियोग कभी नहीं होता। इसीसे प्रायः '*जीव*' शब्दसे लिङ्गदेहसहित जीवका ग्रहण होता है। वृक्ष-पाषाण आदि योनियोंमें यद्यपि सब इन्द्रियाँ वर्तमान हैं फिर भी स्थूल शरीर अनुकूल न होनेसे उनके कार्य सर्वसाधारणके दृष्टिगोचर नहीं होते। इसीसे '*जड़*' शब्दसे उनका ग्रहण करना उचित जान पड़ता है। प्रायः रक्त, मांस आदिसे बने हुए जो शरीर हैं उनमें प्रविष्ट जीवको '*चेतन*' शब्दसे ग्रहण कर सकते हैं; क्योंकि इनमें शरीर अनुकूल होनेसे चेतनताका व्यवहार देखनेमें आता है। अथवा यद्यपि सब जीव चेतन हैं तो भी 'चेतन' विशेषण देनेका यह भाव भी हो सकता है कि जो धर्म अर्थात् पुण्य, पाप आदिका विशेष ज्ञान रखते हैं जैसे कि मनुष्य, वे चेतनमें लिये जायँ और इनसे इतर अन्य जीव '*जड़*' में लिये जायँ।

नोट—३ '*राममय*' के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि सारे जगत्—चर-अचर सबमें श्रीरामजी व्याप्त हैं जैसे गर्म जलमें उष्णता, तप्त लोहेमें अग्नि, बिजलीके तारमें बिजली, पुष्पमें सुगन्ध, दूधमें घृत। इस अर्थमें जड-चेतन जगत् होते हुए भी उसमें श्रीरामजी व्याप्त हैं। परमाणुमें भी व्याप्त हैं। यथा—'*हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥ देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥ अगजगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥*' (१। १८५) सबमें रहते हुए भी वह सबसे अलग भी हैं। यह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है। दूसरे यह कि सब जगत् श्रीरामरूप ही है, सब श्रीराम ही हैं, उनके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। जैसे सोनेके कड़े, कुण्डल आदि सब सोना ही हैं और कुछ नहीं, मिट्टीके घड़े आदि सब मिट्टी ही हैं, वस्त्र सब सूत या रूई ही हैं अन्य कुछ नहीं। अर्थात् व्यवहारमें आकार विशेष छोड़ उनमें कोई और वस्तु देखनेमें नहीं आती। इस अर्थके अनुसार श्रीरामजीके सिवा कुछ है ही नहीं। यह अद्वैत सिद्धान्त है।

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि कोई-कोई लोग गणितकी युक्तिसे भी सिद्ध करते हैं कि सब पदार्थोंमें श्रीरामजी हैं ही। यथा—'*नाम चतुर्गुण पञ्चयुत, द्विगुण कृत्य कर मान। अष्ट वसूको भाग दे, शेष राममय जान॥*' अर्थात् जैसे तीन अक्षरका नाम कोई भी हो उसे चारसे गुणा करो तो ३×४=१२ हुए। उसमें ५ जोड़ें तो १७ हुए, फिर सत्रहके दूने चौंतीस हुए, फिर इसमें आठका भाग दिया तो शेष रहे

दो, जो रामनामके अक्षर हैं। इसी प्रकार ४, ५, ६ आदि कितने ही अक्षरोंके नामसे ऊपरकी रीतिसे शेष दो ही बचेंगे।

बैजनाथजीका मत है कि अन्तर्यामीरूपसे श्रीरामजी सब जगत्‌को प्रकाशित किये हैं और बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि 'श्रीरघुनाथजी व्यापकरूपसे पूर्ण हैं, उनके अन्तर्गत व्याप्त (जगत्) है इससे सर्वत्र स्वामीको ही देखा। अथवा यह जगत् श्रीरघुनाथजीकी एक पाद विभूति है' अतः *'राममय'* कहा।

नोट—४ इस दोहेमें *'सकल राममय'* के *'सकल'* शब्दसे सारे विश्वका ग्रहण हो जाता है। यथा, **'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलम्।'** तब जड-चेतनके लिखनेका क्या प्रयोजन? उत्तर—जगत्‌में जड और चेतन दो भेद हैं। परन्तु चेतनकी अपेक्षा जडको व्यवहारमें तुच्छ समझा जाता है। अतः कदाचित् प्रणाम करनेमें कोई उनका ग्रहण न माने, इसलिये उसके निराकरणके लिये *'जड़ चेतन'* शब्दको देकर सबमें समान भाव दर्शित किया है।

नोट—५ *'जड़ चेतन जग……'* में समष्टि और *'देव दनुज……'* में व्यष्टि वन्दना है। मिलान कीजिये—**'आदिमध्यांत, भगवंत! त्वं सर्वगतमीस पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी। यथा पट-तंतु, घट-मृत्तिका, सर्प, स्त्रग, दारु करि, कनक-कटकांगदादी॥'** (विनय० ५४)

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल[१] थल नभ बासी॥ १॥

सीयराम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥ २॥

शब्दार्थ—आकर=खानि। यथा, *'प्रगटी सुंदर सैलपर मनि आकर बहु भाँति।'* (१। ६५)।=भेद, प्रकार। **लाख चौरासी**=चौरासी लक्ष योनि। जाति=वर्ग, योनि। **बासी**=बास करनेवाले, रहनेवाले।

अर्थ—चार प्रकारके जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें जल, पृथ्वी और आकाशमें रहते हैं॥ १॥ सब जगत्‌को श्रीसीताराममय जानकर मैं दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ॥ २॥

नोट—१ *'आकर चारि……'* इति। जीवकी चार खानि (उत्पत्तिस्थान वा प्रकार) कहे गये हैं। यथा—**'अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः स्वेदजा मशकादयः। उद्भिज्जा वृक्षगुल्माद्या मानुषाद्या जरायुजाः॥'** (पद्मपु०, शिवगीता) मनुस्मृति प्रथम अध्यायमें मनुजीने भी कहा है। यथा— **'पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः। रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः॥ अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः। यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥ स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्। उष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत् किञ्चिदीदृशम्॥ उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः। ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः॥ अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः। पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः॥ गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः। बीजकाण्डरुहाण्येव प्रतानावल्य एव च॥'** (४३—४८) अर्थात् जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार योनियाँ हैं। मृगादि पशु, दोनों ओर दाँतवाले व्याल, राक्षस, पिशाच और मनुष्यादि 'जरायुज' हैं, क्योंकि ये जरायु (झिल्ली) से निकलते हैं। पक्षी, सर्प, घड़ियाल, मत्स्य और कछुवे 'अण्डज' हैं, क्योंकि ये अण्डेसे पैदा होते हैं। इनमें जलचर और थलचर दोनों प्रकारके जीव होते हैं। डाँस, मच्छर, जुएँ (चीलर), मक्खी, खटमल आदि जो पसीना और गर्मीसे उत्पन्न होते हैं, वे 'स्वेदज' हैं। बीजसे अथवा शाखासे उत्पन्न होनेवाले स्थावर 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं, जैसे कि वृक्षादि। फल पक जानेपर जिनका नाश हो जाता है और जिनमें बहुत फूल और फल होते हैं उनको औषधि कहते हैं। जिनमें फूल नहीं होता, केवल फल होता है उनको वनस्पति कहते हैं। जो फूलने और फलनेपर भी बने ही रहते हैं उनकी वृक्ष संज्ञा है।

१-नभ जल थल—भा० दा०, रा० बा० दा०, मा० प्र०। जल थल नभ—१६६१, १७०४। 'नभ जल थल' पाठ मा० पी० के पूर्व दो संस्करणोंमें था। और उसपर नोट यह दिया गया था कि 'नभादिको उनकी उत्पत्तिके क्रमसे आगे-पीछे कहा गया।' परन्तु प्राचीनतम प्रतियोंका पाठ 'जल थल नभ' है और पूर्व भी यह क्रम आ चुका है। यथा— 'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥' (३। ४) अतएव यही पाठ समीचीन समझा गया।